सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन षष्ठम भाग

(परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन षष्ठम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा ७७ से गाथा ९४ तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सकें इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
५३, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूँ निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म की जय

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय .... - 2 -

आत्मकीर्तन .... - 3 -

आत्म रमण .... - 3 -

गाथा ७७ 2

गाथा ७८ 10

गाथा ७९ 25

गाथा ८० 28

गाथा ८१ 33

गाथा ८२ 38

गाथा ८३ 41

गाथा ८४ 44

गाथा ८५ 47

गाथा ८६ 49

गाथा ८७ 54

गाथा ८८ 57

गाथा ८९ 59

गाथा ९० 65

गाथा ९१ 71

गाथा ९२ 75

गाथा ९३ 80

गाथा ९४ 83

नियमसार प्रवचन षष्ठम भाग

प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

परमार्थप्रतिक्रमण की आवश्यकता- यह प्राणी अनेकानेक दोषों का भण्डार बन रहा है। है तो यह प्रभु की तरह अनन्त प्रभुता से परिपूर्ण, किन्तु इस अपने स्वभाव को भूलकर, यह प्राणी बाह्यपदार्थों में आकर्षित होकर अनेकानेक दोषों का पिंड बन रहा है। उन दोषों की वृत्ति के कारण यह आकुलित होता है, जन्ममरण के संकट सहता है। जितने भी उपद्रव हैं उन सब उपद्रवों को इस अज्ञानी प्राणी को भोगने पड़ रहे हैं। कोई ऐसा उपाय मिले जिससे परमार्थतया उन दोषों का प्रतिक्रमण हो जाय अर्थात् परिहार हो जाय, तब ऐसी स्थिति में यह जीव अपने गुण विकास का स्वाधीन सत्य आनन्द प्राप्त कर सकता है। लोक में जितने भी पुराणपुरुष हैं उन्होंने यह कार्य किया था। इस कारण वे आज शुद्धनिर्दोष केवलज्ञानसम्पन्न त्रिलोकाधिपति हैं, लोक और अलोक समस्त त्रिकालवर्ती पर्यायों के स्पष्ट ज्ञाता हैं, अलौकिक समृद्धि से सम्पन्न हैं, उन्होंने परमार्थ प्रतिक्रमण किया था अर्थात् परमार्थस्वरूप में बसे हुए विकारों को हटाया था। इस परमार्थ प्रतिक्रमण के उदय बिना इस जीव को शांति का मार्ग नहीं मिल सकता है। यह बात ध्रुव सत्य है।

अल्पज्ञता का क्या गर्व- हम लोग किस बात पर गर्व किए जा रहे हैं? गर्व करने लायक हमारा आपका ज्ञान नहीं है। ज्ञान के अनन्तवे भाग प्रमाण मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान के मुकाबले में भी एक तुच्छ प्रतिबोध है और विशिष्ट श्रुतज्ञानियों के सामने भी यह हम आप लोगों का पाया हुआ ज्ञान कुछ भी तुलना नहीं करता है। किस बात पर गर्व किया जाय। यहाँ के इज्जत, मान, पोजीशन, प्रतिष्ठा इनका क्या गर्व करना? इस पोजीशन की चाह की डाइन ने इस जीव को बरबाद कर दिया है। यह मायामय संसार में जिसमें अपना कुछ शरणतत्त्व नहीं है यहां यह बेहताश भटक रहा है। दूसरे जीवों की आशा करके दीन बनकर अपने को पतित बना रहा है। विषयों की आशा करके, विषयों के साधनों से गिड़गिड़ाकर यह दीन बन रहा है। कैसा आनन्दनिधान परमपावन सर्वोत्कृष्ट स्वरूप वाला मैं आत्मा हूं और आज कहां दयनीय दशा में पडा़ हुआ है, तिस पर भी खेद और आश्चर्य इस बात का है कि न कुछ मिली हुई सम्पत्ति पर, न कुछ कपोलकल्पित यहां की वार्तावों में यह गर्व किए जा रहा है।

महान् अपराध व उसके दूरीकरण का उपाय- कोई महान् अपराध हो जाय तो उसकी शुद्धि का भी विकट महान् यत्न करना पड़ता है। क्या हम आप सबसे महान् अपराध हुए हैं? सबसे महान् अपराध तो यह है कि महान् अपराध करते हुए भी अपने को चतुर समझे जा रहे हैं। ऐसे कठिन अपराध की शुद्धि कैसे हो? इसका उपाय है परमार्थप्रतिक्रमण। परमार्थप्रतिक्रमण उस भाव में रहा करता है जिस भाव में आना विशुद्ध परमार्थस्वरूप बसा रहा करता है। मैं क्या हूं- इस सम्बन्ध में यदि परमार्थ यथार्थ सत्य सहजरूप प्रतीति है उस वर्तमान परमार्थप्रतिक्रमणरूप पुरूषार्थ के कारण भव-भव के बद्ध कर्म भी विफल हो जाते हैं। प्रतिक्रमण का साधारण लक्षण है लगे हुए दोषों को दूर करना। लगे हुए दोष दूर होंगे दोषरहित ज्ञानपुंज आत्मस्वभाव की दृष्टि से। किसी भी चीज का विनाश होता है तो उसके प्रतिपक्षी पदार्थ के योग से होता है। आत्मा के दोष हैं काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, और उन दोषों के निमित्तभूत हैं उन्हीं दोषों के कारण पूर्वकाल में बांधे हुए द्रव्य कर्म। इन सबका दूरीकरण कैसे हो? उसका उपाय मात्र एक है। वह उपाय है सर्व दोषों से रहित केवल ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व का दर्शन अवलोकन, आशय और आलम्बन। एक इस ही उपाय से समस्त ऐब टल जाते हैं।

पूर्वज ऋषि संतों की अनुपम देन- अपने पूर्वज कुन्दकुन्दाचार्य आदिक ऋषि संतों की अपार परमकरूणा का लाभ तो लूट लीजिए। कितनी उन्होंने हम सब जीवों पर परमकरूणा की थी, जिसका बदला चुका सकने का कोई उपाय ही नहीं हो सकता है। यदि कुछ उपाय हो सकता है हमारे पूर्वज ऋषि संतों के ऋण को चुकाने का तो जो उनकी परमकरूणा में आशय भरा हुआ था- ये जगत् के प्राणी ऐसे सुगम स्वाधीन निज तत्त्व को, निज महानिधि को भूले है, इसे ये पा लें। यदि हम अपने उस ज्ञायकस्वरूप को पा लेते हैं और उसमें रम जाते हैं तो समझ लीजिए कि हमने उन ऋषि संतों के उपकार का ऋण चुका पाया है और इसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। कुछ भी अन्य उपाय करेंगे, चाहे देशना देकर, अध्ययन कराकर तन, मन, धन,

वचन को व्यय करके समाज को सन्मार्ग बतायें, उनका उपकार करें, ऐसे उपाय करें तो उनमें भी अधूरापन रहेगा। आचार्यदेव की इस उपकारशीलता का ऋण हम क्या न चुका पायेंगे।

परमार्थप्रतिक्रमण में स्नात प्रभु का स्मरण- भैया ! यह परमार्थप्रतिक्रमण का अधिकार कैसे सार मर्मों से भरपूर है? उनकी प्रत्येक वाणी, उनके प्रत्येक वचन बड़े-बड़े मर्मों से ओतप्रोत है। यह परमार्थ प्रतिक्रमण निश्चयचारित्र का प्रतिपादन करने वाला है। यह परमार्थप्रतिक्रमण निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का संकेत करने वाला है। यह परमार्थप्रतिक्रमण निश्चय रत्नत्रय के निशाने का अवलोकन करने वाला है। प्रतिक्रमण मायने निखार। कुछ चीज निखर जाती है तो वह अपने स्वरूप में कितना कांतिमान् बनती है। शुद्ध निश्चयात्मक परमार्थचारित्र का संकेत करने वाला है यह परमार्थप्रतिक्रमण। ऐसे परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार को सुनते हुए में, कहते हुए में सर्वप्रथम एक बार कुछ बार परमार्थ प्रतिक्रमण के फल में जो निर्दोष निखर चुके हैं उनका स्मरण कर लो। जैसे सेना के साधारण सिपाहियों के आदर्शरूप सेनापति महासुभटराज जैसे पुरूषों की जय बोलने से गुणानुवाद से सिपाहियों में एक अद्भुत साहस जगता है यों ही हम मोक्षमार्ग के सिपाही जो कर्मशत्रुवों का विध्वंस करने का प्रोग्राम बनाए हुए है। हम साधारण सिपाहियों में बल तब प्रकट होगा जब हम इस मोक्षमार्ग के प्रधान पुरुष गुरूजन और प्रभु की आराधना करें, स्मृति करें तो हममें वह साहस प्रकट हो सकता है कि दोषों की शुद्धि के लिए हम परमार्थप्रतिक्रमण को परमार्थरूप से कर सकें।

देशनाश्रवण का उद्यम- अपने उपयोग में अपने उद्देश्य के मौलिक उद्देश्य में बढ़े हुए महापुरूषों के स्मरण बिना हम अपनी चारित्रनिधि की रक्षा नहीं कर सकते हैं। जो संयम और ज्ञान की मूर्ति हैं, जो क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायों के दलन करने में विकट शूरवीर हैं, ऐसे गुरूजनों का स्मरण करके और इस मोक्षमार्ग के फलरूप विशुद्ध सकलपरमात्मा ओर निकलपरमात्मा का स्मरण करके अब जरा कुन्दकुन्दाचार्यदेव की देशना को सुनिए। इस चारित्राधिकार में सर्वप्रथम यह परमार्थप्रतिक्रमण है। इसमें ५ गाथाएँ आयी हैं। ये पांचों गाथाएँ मानो ५ रत्न ही हैं। उनमें से अब सबसे पहिली गाथा का अवतार हो रहा है-

गाथा ७७

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेव पज्जाओ।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७७।।

चित्स्वरूप की विविक्तता- मैं नारकभावरूप नहीं हूं, तिर्यंच पदार्थ नहीं हूं, मनुष्य और देवपर्याय नहीं हूं। इन रूप भी मैं नहीं हूं और इनका करने वाला मैं नहीं हूं, इनका कराने वाला भी मैं नहीं हूं और इनको जो कोई कर रहे हों उनका अनुमोदने वाला भी मैं नहीं हूं। ये बातें डर कर नहीं कही जा रही हैं किन्तु परमार्थस्वरूप की रूचि के कारण कही जा रही हैं। यों न समझना कि जैसे स्कूल में किसी लड़के से कोई अपराध बन गया है तो वह मास्टर साहब से कहता है मास्टर साहब ! मुझे कुछ पता ही नहीं है, मैंने कसूर नहीं किया है, न मुझे किसी ने बहकाया है, न मैं उस घटना में शामिल ही था- ऐसा डर कर नहीं कहा जा रहा है किन्तु परमार्थस्वरूप को निरखकर जो बात यथार्थ अनुभव में उतरी है उस बात को ये ज्ञानी संत नि:शंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्व के कारण स्वत:सिद्ध हो। मैं नारक तिर्यंच मनुष्य देव कहां हूं? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हूं।

परमार्थस्वरूप के अनुभव का उद्यम- भैया ! इस परमार्थस्वरूप के अनुभव के लिए कुछ समय को इन्द्रियों को संयत करके परमविश्राम प्राप्त करें। सब इन्द्रियों का काम बंद करके, न आँखों से देखना है, न कानों से सुनना है। किसी भी इन्द्रिय का काम न करके परमविश्राम सहित देह से भी दूर भागकर, ज्ञान द्वारा देह से भी दूर चलकर, बहुत भीतर चलकर निरखें तो विदित होगा कि यह मैं आत्मतत्त्व केवल ज्ञानमात्र हूं, इस देह से कितना दूर भागकर अपने अंतस्तत्त्व का पता पाड़ सकेंगे? बहुत दूर भागना पड़ेगा, अत्यन्त दूर चलना पड़ेगा और चलना भी कुछ नहीं पड़ेगा, केवल जरा सा मुख मोड़ देना है। देह की ओर जो आकर्षण बना है, यह देह मैं हूं, इस प्रकार की जो बुद्धि बनी है सो शुद्धविज्ञान करके यह बात समझ लेना कि देह तो मैं हूं ही नहीं, मैं इन रागद्वेषादिक विकारोंरूप भी नहीं हूं। मैं अपने अस्तित्त्व के कारण अपने स्वरूप से अपने स्वभाव में

जो कुछ अपने आप हूं मैं तो वह हूं। जो मैं हूं वह कभी विनष्ट नहीं होता, जो मैं हूं वह कभी छिन्न भिन्न नहीं होता। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। मैं न नारकी हूं, न तिर्यंच हूं न मनुष्य हूं और न देव हूं।

परमार्थोपासक के परमार्थप्रतिक्रमण का अधिकार- कोई कहे कि इस समय तो नारक, तिर्यंच और देव का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता, इस समय तो मेरा मनुष्य शरीर है। अच्छा तो यों कह लो कि न मैं नारकी था, न तिर्यंच था, न देव था, न मनुष्य था और न मैं मनुष्य हूं और न मैं कभी इन चारों देहों रूप होऊँगा। मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूं- ऐसा जिसने अपने आपके शुद्ध सनातन निज अंतस्तत्त्व का आकर्षण प्राप्त किया है वह ज्ञानी परमार्थप्रतिक्रमण का अधिकारी है। परमार्थप्रतिक्रमण बहुत महान् कार्य है। बहुत सावधानी से इन ऋषि संतों की देन को हम आपको ग्रहण करना चाहिए।

मोह में अप्रतिक्रमण का संसर्ग- यह संसारी प्राणी अनादि काल से परम्परया ग्रहण किए चले आ रहे शरीर में आत्मबुद्धि कर रहा है, यह मैं हूं। व्यवहार के अन्दर अनेक संकट इस ही देहात्म बुद्धि के आधार पर निर्भर हैं। जब यह प्रतीति की कि यह मैं हूं तब इस देह के पोषक, देह के विरोधक, विषयों के पोषक जीवों में पर्यायों में पदार्थों में इसे रिश्ता मानना पड़ेगा और जब किसी दूसरे से स्नेह बस गया फिर तो संकटों का जाल बिछ जाया करता है। दूसरे जीवों से मोह भरा स्नेह हो जाना, इससे बढ़कर विपदा अन्य कुछ नहीं है। सकलविभावों का मूल यही है कि दूसरे प्राणियों में स्नेह पहुंच जाना। इसके फल में तो वह फँस चुका पूरा।

परपदार्थ के स्नेह से हानियां- पर के प्रति स्नेह मोह रखने में दो हानियां हैं। एक तो किसी दूसरे जीव से स्नेह का परिणाम किया कि अपने स्वरूप की उपासना से उसे हाथ धोना पड़ा। दूसरी बात पराधीन होकर अपनी व्यग्रता बढ़ा ली गई। एक उपयोग में दो बातें नहीं हो सकती हैं कि दूसरे जीव से स्नेह का परिणाम भी किए जाएँ और अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभवरूप मोक्षमार्ग बनाया जाय। ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। तब समझ लीजिए कि अन्य जीव से स्नेह करने के फल में अपने आपकी कितनी बरबादी करनी पड़ी। अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ कल्पित घर में बसे हुए स्त्री पुत्र आदिक के लिए ही रहें और वे ही सब कुछ हैं ऐसी मान्यता रहे, उनके लिए ही मेरा सर्वस्व श्रम है ऐसी वासना रहे, उनके अतिरिक्त अन्य जीवों पर कुछ भी स्नेह न जगे अर्थात् उनके लिए तन, मन, धन, वचन के उपयोग का कर्तव्य ही न समझा जाय ऐसी स्थिति में यह जीव कितना महा अंधकार में जा चुका है कि उसने अपने स्वरूप की दृष्टि खो दी है। कितनी बड़ी हानि है दूसरे जीव से स्नेह करने में? मोही प्राणी को यह काम लग रहा है बड़ा सुगम और सस्ता, साथ ही लग रहा है अपने आपको आराम देने वाला। कितनी आकुलता, कितनी बरबादी इसमें हो रही है? इस ओर ध्यान नहीं जाता।

सकल संकटों का मूल देहात्मबुद्धि- सकलसंकटों का मूल है अपने देह में 'यह मैं हूं' ऐसी आत्मबुद्धि करने का। हम चाहते तो हैं आनन्द, किन्तु आनन्द मिलने की जो पद्धति है उस पद्धति के लिए एक मिनट भी दृढ़ न होना चाहें तो काम कैसे बनेगा? ऐसा निर्मल स्वच्छ उपयोग होना चाहिए कि यह बात उपयोग में स्पष्ट झलकती रहे कि मेरा तो मात्र मैं हूं, यह देह तक भी मेरा नहीं है, फिर स्त्री पुत्र आदिक की तो चर्चा ही क्या करें? ऐसी स्पष्ट झलक आ सके तो सच जानो कि आज आपने कुछ अर्जन किया अन्यथा तो वही ढला चला जो अनादि से चला आया है, उससे कोई लाभ न होगा। यह चल रहा है परमार्थप्रतिक्रमण अर्थात् जो कुछ धब्बे शेष रह गये हों उन सबको धो धाकर खत्म करें। इस कार्य का यह अधिकार चल रहा है, इसका नाम है परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार।

दोषमय समारोह व कल्याणमय महोत्सव- मोही पुरुष दोषों के लादने में महोत्सव मानता है। अब मुन्ना बड़ा हो गया, अब इसकी शादी हो रही है, बाजे बज रहे हैं, बड़ा तमाशा कर रहे हैं। काहे का है यह महोत्सव? दोषों को लादने का यह महोत्सव हो रहा है। अब शादी हो रही है। बड़ी खुशियां मनायी जा रही हैं। देखो शादी का अर्थ है खुशी मनाना। शादी का अर्थ विवाह नहीं है। मगर शादी का नाम लेने से एकदम विवाह अर्थ हो जाता है। शादी का अर्थ खुशी है, यह नाशाद है अर्थात् दु:खी है। इसकी शादी हो रही हैं अर्थात् इसकी खुशी हो रही है। पर खुशी का अर्थ प्रचलित नहीं है, शादी का अर्थ चारित्र ग्रहण प्रचलित है। यह काहे का समारोह है? यह समारोह है दोषों को लादने का। महोत्सव मायने दोषों का साफ करना, दूर करना, यही है परमार्थप्रतिक्रमण, इससे बढ़कर क्या और खुशी की बात होगी कि मेरे आत्मा में जो अनादि काल से ऐब लगे

चले आ रहे थे उनको जो बिल्कुल साफ कर दे, आगे अनन्त भविष्य काल के लिए संकटों से मुक्ति पा ले, इससे बढ़कर है भी कुछ?

सच्चे सलाहगिरों की विरलता- भैया ! दुनिया की ओर दृष्टि न दो, यह जगत मोहियों की संख्या से भरा हुआ है। यहां से बाहर कदम दिया कि प्राय: शतप्रतिशत लोग मोही-मोही ही नजर आयेंगे। जिनमें अपनी पोजीशन चाही जा रही है वे सब प्राय: मोहियों की मण्डली के सदस्य हैं। वहां हित की क्या आशा कर सकते हैं? अरे सलाह तो किसी दूसरे भी व्यक्ति से मत लो। आप ही अपने ज्ञान को सलाह लेने वाला बना लो और ज्ञान के स्रोत को अपना परममित्र बना लो, जिससे सलाह लेते रहो। यहां कौन दूसरा है ऐसा कि जिसकी सलाह से हम नियम से कल्याण कर ही लें? हां व्यवहार में ऐसे लोग कोई हो सकते हैं कि जिनसे सलाह लेना संकटमुक्ति के लिए आवश्यक है, वे हैं सम्यग्दृष्टिजन, किन्तु ऐसे पुरुष तो बिरले हैं क्वचित् कदाचित् मिलते हैं।

निज ज्ञानबल की पूँजी का प्रताप- भैया ! क्वचित् कदाचित् ज्ञानी संत मिल भी जाय तो भी नफे का काम तब तक नहीं बन सकता जब तक खुद की गांठ में यह ज्ञान संपत्ति न हो। निराट गरीब से तो कोई धनी बात ही नहीं करता है। यों ही कोई निराट अज्ञानी मोही से कोई सम्यग्दृष्टि की बात ही नहीं हो सकती है। खुद में यदि ज्ञान संपत्ति है, तो उसका बल सच्चा है और नहीं है तो ये संसार के झंझट यहां तो चलते ही हैं। अनुभव करो, स्नेह में मत बह जावो, दूसरे लोग कितना ही प्रिय बोलने वाले हों, कितनी ही तरह की सेवाएँ करने वाले हों, पर आत्मकल्याण के मंच पर बैठकर तुम उन सब रिश्तों को एक साथ समाप्त कर दो। जब आत्मकल्याण के मंच से नीचे उतरकर व्यवहार में लगे तो उनसे व्यवहार कर लो, जिसमें अच्छा वातावरण रहे, गुजारा चले। फिर भी यह तथ्य न भूल जाइये कि रात दिवस में जिस भी २ मिनट आत्मध्यान करना चाहते हैं, आत्महित के कृत्य करना चाहते हैं उस काल में तो इस सब जीवों से रिश्ता मूलत: काटना पड़ेगा अन्यथा कुछ भी नहीं कर सकते। न यहां के रहे, न वहां के रहे, यह स्थिति होगी। इस पदवी में रात दिन यह करें यह नहीं कहा जा रहा है, किन्तु जिन दो मिनटों में आपको यथार्थ धर्म करना है वहां यह करना होगा, दूसरा उपाय नहीं है, मैं देह नहीं हूं। मैं एक चैतन्यतत्त्व हूं, ऐसी अपने आपके स्वरूप की भावना बनानी होगी !

आत्मध्यान के अनंतर संभावित स्नेह का विषय सकल जीवलोक- इस परमार्थचैतन्य प्रतपनरूप तपस्या के अनंतर यदि आपका स्नेह जग रहा है तो एक बार सब जीवों को भावपूर्ण हृदय से लगाकर स्नेह करो पश्चात् कुटुम्ब के स्नेह का तो नम्बर आयेगा ही। ऐसे परमयज्ञ में रहने वाले हम आप किसी पुरुष के धर्मप्रभावना जग रही हो, अपने आपका ज्ञानमात्र चिन्तन कर रहे हों, देह से भी न्यारा ज्ञानस्वरूप मात्र निरख रहे हों और इस कार्य के बाद एकदम कुटुम्ब की खबर आती हो तो समझो कि यह मोह चोर उस समय भी पड़ा हुआ था जिस समय हम धर्म का कुछ काम कर रहे थे और कदाचित् इस परमधर्म की उपासना का आनन्द प्राप्त करने के बाद कुछ बाहर निकले और यदि स्नेह की मात्रा आये तो उस समय में सब जीवों को भावरूप से अपने हृदय में लगा सकें, तब समझो कि हमने उस समय इस धर्म का पालन भले रूप में किया।

दोषशोधन- इस प्रसंग में अपने ऐबों को भावना के साबुन से ज्ञान के जल से धोया जा रहा है, यह अत्यन्त स्वच्छ ज्ञानमात्र इसका स्वरूप परिणत हो इसके लिए उद्यम किया जा रहा है। भली बात करने में कितना कठिन हो रहा है और बाद की बात कितनी सुगम लग रही है। यह मोह का कितना विचित्र खेल है? मैं देह भी नहीं हूं, मैं मनुष्य भी नहीं हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप मात्र एक तत्त्व हूं। यों यह प्रतिक्रामक अन्तरात्मा ज्ञानी संत कितना अधिक अंतस्तत्त्व का रूचियां बना चला जा रहा है? इतना अनुपम ज्ञान बल बनाये बिना काम क्रोधादिक विषयकषायों के शत्रुवों को जीतना कठिन है।

कर्तृत्वविषयक जिज्ञासा समाधान- एक जिज्ञासा मैं इन देहों रूप इन पर्यायों रूप नहीं हूं, ठीक है, पर इन देहों का करने वाला तो हूं मैं, मेरी करतूत से ही तो ये देह उत्पन्न होते हैं। आचार्यदेव इसके समाधान में यह कह रहे हैं कि मैं इस देह का, व्यंजनपर्याय का कर्ता नहीं हूं। हे जिज्ञासु पुरुष ! तुम्हें यद्यपि ऐसा लग रहा है कि मैं विभाव न करूँ तो ये देह कहां से आयें, मेरी ही कला के कारण ये देह उत्पन्न होते हैं पर इस समस्या का हल तू इन दो परिज्ञानों के बल से कर ले। पहिला परिज्ञान तो यह है कि मैं आत्मा केवल अपने भावों का ही कर्ता हूं। विभावों को करने के समय में पौद्गलिक कर्मों का बंधन हो जाय तो हो जाय, पर इस कर्म बंधन का कर्ता तो मैं हूं ही नहीं। मैं तो अपनी टेक रख सकता हूं। दूसरे में क्या करतब

कर सकता हूं और इस प्रकार मैं अपने परिणाम भर का करने वाला हो सकता हूं, जड पौद्गलिक आहारवर्गणावों के पुन्जरूप इस देह में मैं क्या दखल कर सकता हूं? यह होता है तो होने पर इसका करने वाला मैं नहीं हूं, यह तो है पहिला परिज्ञान। दूसरा परिज्ञान यह है कि हे आत्मन् ! जरा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तो देखो कि हूं कैसा मैं। तू तो अकर्ता अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत चित्स्वरूप मात्र है, उसको निरख। यह तू तो रागद्वेष का भी कर्ता नहीं है, मोहादिक विभावों का भी कर्ता नहीं है। ऐसा तू अकर्ता है। अब ध्यान में आया कि मैं इस पर्याय का कर्ता भी नहीं हूं और व्यंजन पर्याय का कर्ता भी नहीं हूं, ऐसे इन दो तत्त्वों का इसमें वर्णन किया गया है।

परमार्थतः कर्तृता का अभाव- इस प्रसंग में निज सहज सत्यस्वरूप पर दृष्टि दिलायी जा रही है और उस दृष्टि में यह परिज्ञान कराया जा रहा है कि मैं इस स्वरूपमात्र हूं, मैं किसी पदार्थ का कर्ता नहीं हूं। करना शब्द व्यवहार का शब्द है। वैसे आप कितने ही भाषण करते जायें और निबंध भी लिखते जायें तथा यदि यह चाहें कि मैं अपने भाषण में अथवा निबंध में करने शब्द का प्रयोग ही न करूँ तो आप घंटों बोलते जायें और करना शब्द का प्रयोग नहीं हो सके ऐसा हो सकता है। आप बड़ी पुस्तक लिखें, बोलें और उसमें करना शब्द कहीं भी न लायें तो लिखा जा सकता है परंतु भावप्रक्रिया की धातु लिखे बिना काम नहीं चलता है।

सकर्मकों के अकर्मक प्रयोग में कुछ उदाहरण- अब मैं भोजन करूँगा इसको यों बोल लो, अब मेरा भोजन होगा। करूँगा शब्द बोलने में कर्तृव्य भाव आया, व्यग्रता का भाव आया, धारता गायब हो गयी। क्षोभ की मुद्रा आ गयी। कितना भी आप बोलते जाइये, पर सकर्मक वाक्य का या कर्तृवाच्य का प्रयोग न करें तो भी काम चल जायेगा। अभी तो सिर्फ करने भर की बात कही जा रही है, आप सकर्मक धातु ही न बोलें तो भी काम चल सकता है। मैं मंदिर जाऊँगा, यह सकर्मक प्रयोग हो गया। अब मेरा मंदिर जाना होगा, यह अकर्मक प्रयोग हो गया। अब मैं शिष्यों को पढ़ाऊँगा, यह सकर्मक प्रयोग हो गया अब मुझसे शिष्यजन पढ़ेंगे, यह अकर्मक प्रयोग हो गया। या शिष्यजन मेरा आश्रय पाकर, निमित्त पाकर या मुझ पर दृष्टि रखकर अध्ययन करेंगे। सकर्मक प्रयोग की अपेक्षा अकर्मक वाक्यों के प्रयोग में बहुत नम्रता भरी होती है।

ज्ञानियों के वचन प्रयोग- भैया ! मेरे ख्याल से ज्ञानी पुरूषों का उनकी भाषा में सकर्मक वाक्यों का बहुत कम प्रयोग होता है। कितने ही वक्ता तो छाती ठोककर भी कहते हैं कि मैंने यह किया, मैं वहां गया, मैं-मैं का प्रयोग करके अपनी शान से भरा भाषण बना देते हैं, पर मेरे ख्याल से ज्ञानीसंतों की भाषा में अकर्मक वाक्यों का प्रयोग बहुत होता है। कदाचित् ही सकर्मक भाषा का प्रयोग वे करते हैं। भरमार नहीं होना चाहिए सकर्मक वाक्यों का।

निर्दोषीकरण का पुरूषार्थ- इस प्रकरण में एक बहुत बड़ी पुरूषार्थ सम्बन्धी बात की जा रही है। मैं अपने आपको ऐसा शुद्ध स्वच्छ रूप परिणत करूँ कि मुझमें एक भी विकार का धब्बा न रह सके, उसकी तैयारी की जाती है और इस तैयारी में सर्वप्रथम सीधा यों कहना पड़ेगा कि मैं नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव किसी भी पर्यायरूप नहीं हूं। जो अपने को कुछ बनायेगा उसे आकुलता मचेगी। जो अपने को कुछ बनाना नहीं चाहता उसे आकुलता नहीं होती। मैं नारकपर्याय नहीं हूं और नारकभाव भी नहीं हूं, अर्थात् जिन परिणामों के कारण नारकपर्याय मिलती है बहुत आरम्भ परिग्रह रखने का परिणाम रखना, इन भावों रूप भी मैं नहीं हूं। जैसे जरासी आँख मींचने और आँख खोलने में हमारी दो दुनिया बन जाती हैं, आँख मींचकर बैठे तो दूसरी प्रकार की दुनिया दिखती है, आँख खोलकर चले तो दूसरे प्रकार की दुनिया दिखती है। ऐसे ही अपनी ओर मुड़े तो परमार्थलोक दिखता है और बाह्य की ओर मुड़े तो वहां यह सारा मायामय लोक दिखता है।

सर्वविशुद्धदृष्टि- मैं तो शुद्ध जीवास्तिकायरूप हूं। परमार्थदृष्टि से देखा जाय, सहज शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करके निरखा जाय तो मैं शुद्ध जीव पदार्थ हूं। इस मुझ जीव में नारकादिक पर्यायें नहीं हैं। यह प्रकरण बहुत सावधानी से जानने और सुनने लायक है। थोड़ा दृष्टि से चिगे कि यह दिखने लगेगा कि यह कितना अशुद्ध बोला जा रहा है कि मैं मनुष्य नहीं हूं। मनुष्य हैं, यहां बैठे हैं, अभी खायेंगे पियेंगे, व्यवहार करते हैं और यह कह रहे हैं कि मैं मनुष्य नहीं हूं और इसी में अपने बड़े उत्कृष्ट ज्ञान का गौरव कर रहे हैं। सच तो यह है कि ज्ञानी की कला को अज्ञानी माप नहीं सकता। किसी अज्ञानी को ज्ञानी के अन्तर के मर्म को समझना हो तो उसे अपनी अवस्था छोड़कर ज्ञानी की लिस्ट में आना चाहिए तो ज्ञानियों के आंतरिक

मर्म को पहिचान सकता है। नहीं तो उपादान तो है अज्ञान भरा और करेगा ज्ञानियों की करतूत की नकल का तो उसमें विडम्बना ही रहेगी।

ज्ञानियों की कला की अज्ञानियों के अगोचरता- जैसे कुछ लोग कुत्ते के छोटे-छोटे बच्चों को खिलाते हैं, वे बच्चे लात मारें, कभी मुख भी जड़ जाते हैं और ये उन पिल्लों को अपनी छाती से लगाकर खिलाते हैं। कोई गधा यह देखे कि ये पिल्ले इसलिए इसके प्रिय बन रहे हैं कि इस मनुष्य को ये लात मारते और दांतों से चबाते हैं, सो अपन भी लात मारें और दातों से चबायें तो वह प्यार करेगा। वह यदि ऐसा ही करने लगे तो उसे प्यार की जगह पर डंडे ही मिलेंगे। यों ही किसी का उपादान तो है अज्ञान भरा और करने लगे ज्ञानियों की क्रियावों की नकल, अन्तर में मर्म कुछ भरा नहीं तो कैसी विडम्बना होगी सो वही जानेगा और कुछ-कुछ दूसरे भी समझ सकते हैं। घर छोड़ा, परिग्रह छोड़ा, केवल शरीर मात्र ही रह गया, फिर भी चैन नहीं पड़ती, आकुलता मच रही है। यह सब क्या हो रहा है? उपादान तो अज्ञानमय बना हुआ है और क्रियाएँ ज्ञानियों की कर रहे हैं।

आत्मा की विशुद्ध स्वरूप चतुष्टयात्मकता- भैया ! सर्वप्रथम अपने आपके यथार्थ स्वरूप को तो पहिचान लो। जिसके परिचय के प्रताप से सहज कला प्रकट होती है, और यह शांति की सिद्धि में अवगाह करके संसार के सारे संतापों को समाप्त कर देता है। मैं शुद्ध जीवास्तिकायरूप हूं, मैं शुद्ध जीव पदार्थ हूं, मैं शुद्ध जीवद्रव्य हूं, मैं शुद्ध जीवतत्त्व हूं। पिण्डात्मक दृष्टि से देखा, गुणपर्यायवान् पदार्थ के लक्षण से देखा तो यह मैं अपने गुणपर्यायस्वरूप हूं। इससे भी कुछ गहरी दृष्टि लेकर चलें तो मैं सहज ज्ञानादिक गुणस्वरूप हूं और मेरा जो सहज परिणमन है, अर्थपरिणमन है, अगुरूलघुत्व गुण के निमित्त से होने वाले धर्मादिक द्रव्यों की तरह जो सत्त्वपरिणमन है, तन्मात्र मैं हूं। यूँ जो शुद्ध जीव पदार्थ को निरख रहा है उसके ज्ञान की यह बात है कि मैं नारक पर्याय नहीं हूं, मैं किसी पर्यायरूप नहीं हूं, उन पर्यायों के भेदरूप नहीं हूं, ये सब व्यवहार से बाह्यदृष्टि के प्रताप से निमित्तनैमित्तिक भाव से होने वाली मायाएं हैं। जब मैं अपने प्रदेश की दृष्टि से अपने को निहारने चला तो वहां देखा कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूं। इस क्षेत्र में अन्य कुछ भी विकार नहीं हैं। जब उस परिणमन की निगाह लेकर देखने चला तो मेरे स्वरूप में मेरे ही कारण मेरे में जो अर्थपरिणमन है वह भी एक अर्थपरिणमनों का आधारभूत सामान्य परिणमन मात्र हुआ, ऐसा यह मैं शुद्ध जीवद्रव्य हूं। जब मैं भावदृष्टि से अपने को निहारने चला तो केवल ज्ञानानन्दभावरूप मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं हूं। ऐसा मैं शुद्ध जीवतत्त्व हूं।

विभावविविक्तता- इस जीव के उन नारक आदिक भावों के कारणभूत रागद्वेष मोह व्यवहार से हैं, परमार्थ से नहीं हैं, अर्थात् मेरे स्वरूप से रचे हुए वे भाव नहीं हैं। स्वरूप में रचे हुए भाव वे हैं जो अनादि अनन्त अहेतुक नित्य प्रकाशमान् हैं। यों ही समझ लीजिए कि मैं तिर्यंच व्यंजन पर्याय नहीं हूं और तिर्यंच भावरूप भी नहीं हूं। तिर्यंचपर्याय के योग्य जो माया से मिला हुआ अशुभ कर्म होता है अशुभ भाव होता है वह मेरे स्वरूप में नहीं है। सो न मैं तिर्यंचभावरूप हूं और न तिर्यंचपर्यायरूप हूं। ऐसा ही जानिए कि मनुष्य आयु के योग्य जो परिणाम हैं उन परिणामोंरूप भी मैं नहीं हूं और मनुष्यपर्यायरूप भी मैं नहीं हूं।

ज्ञानी का अगाध गमन- यह ज्ञानी अपने आपमें कितना गहरा उतर गया है कि जैसे समुद्र के किनारे बैठे हुए पुरुष को बहुत नीचे मग्न होने वाले मनुष्य का क्या पता है, ऐसे ही इस तत्त्वसमुद्र के किनारे पर बैठे हुए बातूनी पुरुष को इस तत्त्वसमुद्र की गहराई में मग्न हुए ज्ञानी की करतूत का क्या पता है? मैं मनुष्यपर्यायरूप भी नहीं हूं, इसी प्रकार देव पर्यायरूप नहीं हूं, देवपर्याय में होने वाले सरस सुगंध पुद्गलद्रव्य शरीर स्कंध ये भी मेरे स्वरूप में नहीं हैं और जिन भावों का निमित्त पाकर ऐसी देव अवस्था मिलती है मैं उन भावों रूप भी नहीं हूं। यह मैं सर्वव्यंजन पर्यायों से परे शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। मैं उन रूपों नहीं हूं और उन रूपों का कर्ता भी नहीं हूं। मैं सदा अपनी ही रचनावों को किया करता हूं। मैं पुद्गल की रचनावों रूप नहीं परिणम सकता।

कारयितृत्वविषयक शंका- इस तरह यहां तक ये दो बातें बतायी गई हैं कि मैं इन व्यंजन पर्यायोंरूप नहीं हूं, देहोंरूप, शरीररूप नहीं हूं और शरीर का कर्ता भी नहीं हूं। अब यह बतला रहे हैं कि मैं इन शरीरों का कराने वाला भी नहीं हूं, पहिली दो बातों को सुनकर किसी के चित्त में यह आ सकता है कि मैं इन पर्यायोंरूप नहीं हूं, यह भी समझ में आ गया क्योंकि मैं

चैतन्यस्वरूप हूं और यह शरीर जड़ हैं, अचेतन है, यह भी समझ में आ गया कि मैं जिस रूप बनूँगा सो अपने ही रूप बनूँगा। किसी अचेतन पर शरीर के रूप में नहीं बन सकता हूं- यह भी ध्यान में आ गया। पर कुछ यह जरा कम ध्यान में आता कि मैं इन शरीरों का कराने वाला भी नहीं हूं। कैसे नहीं हूं? मैं कराता हूं तब ये शरीर बनते है। मैं परिणाम करता हूं, मैं प्रेरणा करता हूं और जैसे बना करते हैं उस रूप में प्रयोग किया करता हूं। तब मैं कराने वाला तो होऊंगा।

कारयितृत्वविषयक समाधान- आचार्यदेव समाधान करते हैं कि तू इन पर्यायों का कराने वाला भी नहीं है। किसे कराना कहते हैं? कार्य प्रयोजकता को कराना कहते हैं। कार्यप्रयोजकत्वं हि कारकत्वं। जिस कार्य का प्रयोजन जिसे मिलता है, जिस कार्य का फल जो पायेगा, जो पाना चाहता है उसे कहते हैं कराने वाला। जैसे कोई कहता है कि मैं कुवां साफ कर रहा हूं, उसमें भाव यह भरा हुआ है कि कुए को साफ करने वाले तो मजदूर है पर कुवों के साफ हो जाने से उसका प्रयोजन मुझे मिलेगा क्या? दुनिया में मेरा नाम होगा? सब लोग मेरा यश गायेंगे कि इन्होंने कुवां साफ कराकर लोगों का बड़ा उपकार किया है। हम भी उसमें पानी पियेंगे। तो जिसे किये जाने वाले कार्य का प्रयोजन मिले उसे कराने वाला कहते हैं। प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कराता भी नहीं। चर्चा बड़ी सावधानी से सुनने की है। अब जरा यह देखो कि मैं अपने को जिसका भी कराने वाला मानता हूं क्या उस कार्य का प्रयोजन हमें मिलता है? इसका निर्णय करिये।

कार्यप्रयोजकत्व का निर्णय- जिस कार्य में जो परिणमन होता है उस कार्य का प्रयोजन उस पदार्थ को मिलता है जिस पदार्थ में परिणमन हो रहा है। 'मैं ईंधन को जला रहा हूं' इन शब्दों में देखिये, काम क्या हो रहा है? ईंधन जलाने का। उस ईंधन के जलाने का प्रयोजन किसे मिला? उन्हीं स्कंधों को, अर्थात् जल करके वे क्या हुए और इस तरह का मिला प्रयोजन किसे? उन्हीं स्कंधों को मिलता है उसका प्रयोजन, हमको नहीं मिलता है। कल्पना करके हम चाहे देश के राजा अपने को कहलवाने लगें तो उसकी क्या कीमत है? यों तो खेल-खेल में बच्चे लोग भी बादशाह बन जाते हैं, कोतवाल बन जाते हैं, न्याय किया करते हैं। तो कल्पना में कुछ भी मान लें किन्तु वास्तविक बात यह है कि किसी भी कार्य का प्रयोजन मुझे नहीं मिलता, किन्तु जिस पदार्थ में परिणमन हो रहा है उसे प्रयोजन मिलता है।

कार्यप्रयोजकत्व का प्रयोजनिक विवरण- अच्छा जरा बतावो कि मैं जब किसी प्रकार का राग कर रहा हूं तो उसका प्रयोजन किसे मिलेगा? मुझे। उसका फल किसे मिलेगा? मुझे प्रयोजन अर्थात् फल क्या मिलेगा कि आकुलित होते रहेंगे। ठीक, यह चौकी बन गयी, यह चौकी मिट गयी, यह चौकी जल गयी ये सब काम हो रहे हैं, इसका प्रयोजन किसे मिलेगा? उन ही पुद्गल स्कंधों को। क्या प्रयोजन मिला? यह मिला कि उनकी सत्ता बनी रही। यह पदार्थ यदि परिणमें नहीं तो उनकी सत्ता कायम न रहेगी। इस कारण इन अचेतन के नाना प्रकार के परिणमनों का प्रयोजन यह है कि वे अपने सत्त्व से त्रिकाल बने रहते हैं, इसके आगे उस कार्य का प्रयोजन नहीं है। अब समझ लीजिए कि मैं शरीरों का कराने वाला हूं क्या? नहीं हूं। न मैं कर्ता हूं और न मैं कराने वाला हूं। मैं तो शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं ऐसी स्वभावदृष्टि रखने वाले साधु संत परमार्थ प्रतिक्रमण किया करते हैं।

कारयितृत्व का निर्णय- कार्य का प्रयोजन जिसे मिले उसे कराने वाला कहते हैं। जैसे लोकव्यवहार में कहते हैं कि मालिक ने नौकर से काम कराया तो उस काम का फल किसे मिलेगा? जिसे मिले उसी को कराने वाला कहते हैं। अब यहां परमार्थदृष्टि से निर्णय कीजिये और सर्वप्रथम स्व में ही निरखिये कि किसी भी पदार्थ के परिणमन का फल क्या मुझे मिलता है? चूँकि एक पदार्थ का परिणमन किसी अन्य पदार्थ में आ नहीं सकता है इस कारण किसी भी पदार्थ के परिणमन का फल वस्तुतः अन्य को नहीं मिलता है। जो परिणम रहा है उसके परिणमन का फल उसी को मिलता है। परमार्थ दृष्टि से निरखते जाइए कि किसी भी पदार्थ के परिणमन का फल क्या-क्या मिलता जा रहा है? मूल फल तो यह है कि पदार्थ के परिणमन का फल पदार्थ का सत्त्व बना रहना है। न हो परिणमन तो सत्त्व नहीं रह सकता है इसलिए एक ही उत्तर लेते जाइये समस्त पदार्थों में। वही उत्तर मूल उत्तर स्वयं में घटित कर लीजियेगा।

अमूर्त अजीव द्रव्यों का कार्यप्रयोजकत्व- धर्मद्रव्य क्यों परिणम रहा है? अपना सत्त्व रखने के लिए परिणम रहा है। अधर्म द्रव्य क्यों परिणम रहा है? वह भी अपना सत्त्व रखने के लिए परिणम रहा है। इसी प्रकार आकाशद्रव्य और कालद्रव्य क्यों परिणम रहे हैं? ये भी अपना-अपना सत्त्व रखने के लिए परिणम रहे हैं। वैसे यह भी कहा जा सकता है कि कालद्रव्य अन्य

द्रव्यों का परिणमन करने के लिए परिणम रहा है, तो यों निमित्त दृष्टि का जो उत्तर है वह औपचारिक उत्तर है, पारमार्थिक नहीं है और ऐसा उत्तर प्रत्येक द्रव्य में लगाया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों की किसी न किसी बात में निमित्त हुआ करता है। तो ये चारों द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपना-अपना अस्तित्त्व रखने के लिए परिणम रहे हैं।

पुद्गल पदार्थ का कार्यप्रयोजकत्व- अब पुद्गल के सम्बन्ध में निरखिये। कोई भी पुद्गल स्कंध किसलिए परिणम रहा है? लोग कह बैठेंगे कि वह कुर्सी हमारे बैठने के लिए बन रही है। जरा कुर्सी के हृदय होवे तो उससे पूछो कि तुम किस लिए बन रही हो? तो वह क्या जवाब देती है? वह तो अपना अस्तित्त्व रखने के लिए परिणम रही है। किसी भी प्रकार परिणमें, पुद्गल को अपने परिणमन में हठ नहीं है। इस बेईमान जीव को ही हठ लगी है नाना प्रकार के परिणमन में, इस पर पुद्गल को किसी भी प्रकार के परिणमन की हठ नहीं पड़ी हुई है। मैं तो कुर्सी ही बनूंगा, ऐसा पुद्गल स्कंधों में हठ नहीं है। कुछ भी परिणमों, जरा और भी देखते जावो, कुर्सी जल गयी तो वह खाक बन गयी, तो यह खाकरूप किसलिए बन गयी? क्या उत्तर होगा? मैं दूसरे के बर्तन मांजने के लिए खाक बन गयी, यह उत्तर होगा क्या? अरे वह खाक भी बनी है तो अपना अस्तित्त्व रखने के लिए। पदार्थ में क्यों परिणमन हो रहा है? यह तो पदार्थ के अस्तित्त्व का सहयोग मात्र है।

जीवद्रव्य का कार्यप्रयोजकत्व- अब जरा जीवद्रव्य पर आइए, जीवद्रव्य का कुछ भी परिणमन होता है वह किसलिए हो रहा है, पूछिए किसी जीव से। क्यों भाई ! तुम रागरूप परिणम रहे हो, किसलिए परिणम रहे हो? मूल उत्तर तो यह है कि हम अपना अस्तित्त्व रखने के लिए परिणम रहे हैं। तुम अपना अस्तित्त्व रखने के लिए रागरूप परिणम रहे हो। यहां रागरूप की बात नहीं कह रहे हैं। जो भी परिणमन होगा वह भी किसी न किसी विशेष रूप होगा, उससे हमें मतलब नहीं है। यह जीव उत्तर दे रहा है अपने सही होश के साथ। निमित्त के सद्भाव में विकाररूप विशेष होगा, निमित्त के अभाव में सामान्यरूप विशेष होगा। विशेष परिणमन तो चलेगा पर हमें विशेष से मतलब नहीं। हमें तो परिणमन मात्र से प्रयोजन है क्योंकि मैं द्रव्य हूं, जो कुछ भी परिणमता हूं अपना अस्तित्त्व रखने के लिए परिणमता हूं।

विकारी जीव का कार्यप्रयोजकत्व- अब मूल से और ऊपर उठकर अन्य उत्तर सुनिये। ऐ आत्मन् ! तुम किसलिए यह राग कर रहे हो? उत्तर यह होगा कि मैं अपनी आकुलता मिटाने के लिए राग कर रहा हूं, मिटे अथवा न मिटे। इसकी बात नहीं कहते हैं, किन्तु राग करने वाले का अन्य में क्या प्रयोजन रहता है? सबकी चेष्टा का यही प्रयोजन है कि अपनी आकुलता मिटा लें, पर हो क्या रही है? आकुलता। तो तीसरा उत्तर यह है कि मैं आकुलित होने के लिए, भोंदू बने रहने के लिए राग कर रहा हूं। चलो कुछ हर्ज नहीं। अब तक इस जीव ने स्वरूप की लाज तो रक्खी। अपना ही तो परिणमन फल में बताया। अब तक दूसरे का नाम नहीं लिया इसने।

व्यामोही जीव का कार्यप्रयोजकत्व के सम्बन्ध में व्यामोहपूर्ण उत्तर- अब इसके आगे जो चौथा उत्तर होगा वह बेवकूफी से भरा हुआ होगा। अरे आत्मन् ! तुम किसलिए यह राग कर रहे हो? किसलिए यह तुम २०० रु. की साड़ी ले आये हो? स्त्री को खुश करने के लिए। अब यह आ गया मूढ़ता भरा उत्तर। अरे वह परद्रव्य है, परद्रव्यों में तुम क्या कर दोगे? उस साड़ी में अगर एक भी धागा दूसरे रंग का लगा हुआ दिख जायेगा तो वह स्त्री साड़ी को फेंक देगी और गाली सुनायेगी। तुम दूसरे को प्रसन्न करने के लिए यत्न कर रहे हो? या कुछ भी हो। कोई जीव अपने परिणमन का फल दूसरे जीवों में नहीं ला सकता है, तब कोई किसी अन्य का कराने वाला हुआ क्या? यह मैं आत्मा किसी भी परद्रव्य का कराने वाला भी नहीं हूं।

जिज्ञासु का समाधान और एक अन्तिम जिज्ञासा- यहां तक इस परमार्थ प्रतिक्रमण के अधिकार में अपनी-अपनी भूल से लगे हुए कलंकों को साफ करने के पुरूषार्थ में तीन बातें कही गयी है। मैं किसी नर नारकादिक पर्यायरूप नहीं हूं। मैं उनका करने वाला नहीं हूं और मैं उनका कराने वाला भी नहीं हूं। खास-खास मोटी-मोटी बातें निकल रही हैं। सबसे मोटी बात पहिली थी, उससे कुछ कमजोर बात दूसरी थी, उससे कुछ कमजोर बात तीसरी थी, अब आखिरी बात यह जिज्ञासु पुरुष रख रहा है कि महाराज न सही मैं पर्यायरूप, न सही मैं उनका कर्ता, न सही मैं उनका कराने वाला किन्तु उनका जो कुछ भी करने वाला हो चाहे वही सही, पुद्गल का पुद्गल ही करने वाला सही, पर करते हुए उनका अनुमोदन करने वाला तो मैं हूं। कितना कठिन तर्क रक्खा जा रहा है? अरे मैं शरीर का मोटापा देने वाला नहीं हूं, उस पर हमारा क्या वश है? मोटा हो जाय

तो हो जाय, दुर्बल हो जाय तो हो जाय, पर जब यह शरीर तगड़ा हो रहा है, मोटा हो रहा है, इसका करने वाला या कराने वाला नहीं हूं तो अनुमोदना करने वाला तो हूं, तारीफ करने वाला तो हूं, समर्थन करने वाला तो हूं ना?

जिज्ञासु की अन्तिम जिज्ञासा का समाधान- आचार्य देव उत्तर देते हैं कि तुम करने वाले की अनुमोदना करने वाले भी नहीं हो। कुछ भी हो परपदार्थ में परिणमन होता है वहां वह उसका ही परिणमन है और इस प्रसंग में कुछ भी होता हो तुम्हारा अनुमोदना वह परिणमन तुम्हारा ही परिणमन है, तो तारीफ करने का जो भाव बना, उसमें अनुमोदन समर्थन हर्ष करने का जो परिणाम बना इसमें भी हर्ष परिणमन तुम्हारा ही तो ईप्सिततम है। वह परिणमन तुम्हारे ही प्रदेश में हुआ। उस परिणमन के आश्रय तुम ही हो। वह परिणमन तुममें ही एक रस बन करके हुआ है। तुम वहां अपने ही भाव में अपना ही अनुमोदन करने वाले हो रहे हो। तुम पर में क्या अनुमोदन कर सकते हो? तुम करने वाले के अनुमोदक भी नहीं हो।

संकटमुक्ति का उपाय संकटसाधनों की निवृत्ति- यह बहुत ऊँचे कल्याण प्रसाद की बात चल रही है। मुझे संसार के समस्त संकटों से निवृत्त होना है, उन संकटों से निवृत्त होने के लिए संकट जिन-जिन विकारों को, दोस्तों को देखकर आया करते हैं उनको हटाना है। होली के दिनों में कोई एक बूढ़ासा अथवा कुछ मजाकिया सा एक ऐसा पुरुष होता है जिसके ऊपर यह सलाह रहती है कि जिस घर पर यह बैठ जायेगा तो १०-२० हुड़दंग लड़के धूल कीचड़ उड़ाउड़ाकर सारा घर भर देंगे। वे सब आपस में सलाह कर लेते है कि आज फलाने के घर धूल कीचड़ डालकर उसकी अक्ल ठीक करना है, वे हुड़दंग लड़के कीचड़ डालते हैं और वह बूढ़ा मजाकिया उनको बनावटी गाली देता है। सारा घर धूल से भर देते हैं। ऐसे ही ये जितने चारित्र मोह के विकार हैं ये तो है वे सब हुल्लड़ लड़के; जो कीचड़, धूल आदि फैंकते हैं। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब हैं हुड़दंगे और बूढ़ा मजाकिया है मिथ्यात्व मोह। यह मोह जिस घर में बैठ जाता है उस घर में ये काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हुड़दंग लड़के कीचड़ उछालते हैं, धूल फैंकते हैं, उसका घर बरबाद कर डालते हैं। जिस किसी में हिम्मत आ जाय कि इन हुड़दंगों को निकालकर भगा दें तो ये हुड़दंगे भी अपने आप फिसल जायेंगे। इस तरह से न वे हुड़दंगे हुल्लड़ मचा सकेंगे और न वह बूढ़ा मजाकिया हुल्लड़ मचा सकेगा।

संकटशमनसाधन के उपाय का संकेत- तब क्या करना है? ऐसा प्रबल बहादूर कोई आये कि इन सबको हटाये, मारे, भगाये तो शांति होगी, ऐसे ही कोई बहादूर ज्ञानी जीव जो इन सबको अपने घर से हटा दे तो वह शुद्ध स्वच्छ और शांत रह सकता है। वही काम कराया जा रहा है इस परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार में।

विदेश से निज घर के विश्रामस्थान में आने का क्रम- जैसे कोई पुरुष अपने इटावा के घर से लालपुरा के मकान से चलकर विलायत में पहुंचे। बहुत दूर चला गया घर से १०, ५ हजार मील दूर चला गया। अब जब उसे अपने घर की सुध आती है अथवा अपने घर का प्रयोजन उसकी दृष्टि में आता है तब वह विलायत से चलता है। लोग पूछते हैं कहां जा रहे हो? वह कहता है कि अब हिन्दुस्तान जा रहे हैं। हिन्दुस्तान के किनारे आ गया। जब वहां से चला तो लोग पुछते हैं कि कहां जा रहे हो? तो वह कहता है कि हम उत्तर प्रदेश जा रहे हैं। उत्तर प्रदेश के किनारे पर पहुंचा तो पूछा कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिला कि हम इटावा जिले जा रहे हैं? इटावा जिले के निकट पहुंचे तो पूछा कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिला कि इटावा जा रहे हैं। जब स्टेशन आ गया तो ये रिक्शे वाले पूछेंगे कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिलेगा कि लालपुरा जा रहे हैं। लालपुरा के नुक्कड़ में आ गया, वैद्यजी के घर के सामने तक आ गया मानो, तब पूछा गया कि कहां जा रहे हो? तो कहा गया कि फलानी गली में अमुक मकान में। वहां पहुंचा दिया रिक्शे वाले ने। यहां तक तो दूसरे की सवारी पर चढ़कर आया। मकान के द्वार पर उतरकर अब क्या करेगा? रिक्शा तो अन्दर घुसता नहीं, अब स्वयं अपने आपके पैरों से घर के भीतर जायेगा और जो उसके विश्राम करने का स्थान है वहां जाकर पंखे की बटन खोलकर गद्दी पर चित्त होकर लेट जायेगा। फिर वह नि:संकोच होकर आराम करने लगेगा।

बाह्योपयोग से अनिजोपयोग में आने का एक क्रम- ऐसे ही यह जीव निज घर से निकलकर विलायत में बहुत दूर पहुंच गया। कहां पहुंच गया भाई? इन जड़ पदार्थों तक में पहुंच गया। जब इसे निजस्वरूप की खबर आये, अपने प्रयोजन की बात मन में आये तो अब यह विलायत से चला, अब इन जड़ पौद्गलिक प्रसंगों से हटा, मानो ये महल मकान पूछ रहे हैं कि कहां जा रहे हो? तो यह उत्तर देता है कि मैं अपनी चैतन्य जाति में जा रहा हूं। ओह इन पुद्गलों से हटकर यह आया मात्र चेतनों

में, परिजन मित्र चेतन जाति ही तो हैं। वहां भी इसका प्रयोजन न था, तो वहां से भी हट रहा है। तो पूछते है वे ही चेतन लोग कहां जा रहे हो? अब मैं जा रहा हूं अपने क्षेत्र में, अपने अस्तित्त्व में। इसके निकट पहुंचा तो पूछा गया, अब तुम कहां जा रहे हो? तो उत्तर दिया अपने स्वतत्त्व की परख करने जा रहा हूं। अब स्वतत्त्वों का तो बड़ा विस्तार है- ५ हैं स्वतत्त्व। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। इन तत्त्वों में किन्हीं तत्त्वों में पहुंच गया। वहां से भी आगे बढ़ने लगा तो वहां भी प्रश्न हुआ। अब कहां जा रहे हो? तो औदयिक भावों से तो उसे हटना था, वहां कुछ प्रयोजन नहीं मिला तो उत्तर मिलता है कि हम अपने स्वभाव विकास की जगह जा रहे हैं। औदयिक तो केवल विकार भाव है। स्वभाव विकास की बात तो उनमें नहीं है। वहां से हटकर स्वभावविकास की सीमा में पहुंच गया, अल्पविकास में वहां भी इसका चित्त न लगा। कहां जा रहे हो? मैं निरूपाधिपरिणमन में जाना चाहता हूं। वह आया अब कुछ औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक भाव अथवा सम्यक्त्व आदिक के निकट यहां तक आने में इस जीव को अपने ज्ञान की और मन की दोनों की सहायता मिलती रही।

निराकुल निजविश्रामस्थान में आने की पद्धति- अब इसके बाद उतर गया, पूछने वाला अब कोई नहीं रहा, उतरकर अपने ही ज्ञानबल से मन का सहारा छोड़कर अब यह निज परमपारिणामिक संयमभूत शुद्ध जीवत्व ज्ञायकस्वरूप के निजी महल में यह पहुंचता है और वहां बेखबर होकर जहां से आया, जो मिले थे, जिनके बीच में था, जिन-जिन से बातें हुई थी, उन सबकी खबर छोड़कर निःशंक होकर सो जाता है। जैसे कोई अकेले बैठे तो कुछ परवाह न करके बैठता है, शरीर कहां जा रहा है, कहां बैठे हैं, कुछ भी परवाह नहीं रहती है और जरा दूसरों का ख्याल आ जाय, अब यह भाई आयें हैं, यह मां जी आयी हैं तो यह हाथ पैर फटकार कर ढंग से बैठ गया। अरे यह तो बतावो अब इस ढंग से बैठने में वह आनन्द है क्या जो पहिले अटपट पड़े थे, किसी की खबर न थी, निःसंकोच मुद्रा में पड़ा हुआ था? नहीं रहा वह आनन्द। यों ही समझ लो यह जीव निःसंकोच मुद्रा में दूसरे की सबकी खबर छोड़कर इस ज्ञानस्वरूप की साधना में एक रस बनकर या यों कहो कि शून्यसा होकर, मग्न होकर विश्राम कर रहा है।

वर्तमान स्थिति और मूल कर्तव्य- अब आप यों समझो कि विश्राम के निजी घर के स्थान को छोड़कर हम कितना दूर भटक रहे हैं? ध्यान में लायें और तिस पर भी खेद की बात यह है कि उस भटकने पर ही हम गर्व कर रहे हैं, मेरे इतने महल हैं, मेरे इतना धन वैभव है, मैं इतना बड़ा हूं, मैं ऐसा कर सकता हूं, मैंने यों किया था, मैं यों कर दूं, कितना गर्व मचा रहे हैं। तब स्थिति यह है कि तू न नारकादिक पर्यायरूप है, न इन सर्वपरद्रव्यों का कर्ता है, न इन सर्वपदार्थों का कराने वाला है। अन्य की बात तो दूर रही इन पदार्थों को करते हुए जो कुछ भी हों उनका तू अनुमोदन करने वाला भी नहीं है। ऐसा परमविविक्तता का भाव रखने वाले ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके क्षेत्र को इतना साफ और स्वच्छ बना लेते हैं कि किसी भी प्रकार के विकार का धब्बा भी नहीं रहने देते। ऐसी शूरवीरता जहां प्रकट हुई वहां ही परमार्थ प्रतिक्रमणरूप अमृत का पान किया जा रहा है।

वास्तविक शूरता- शूरवीरता दूसरों को सताने में नहीं है, शूरवीरता परपदार्थ के संचय करने में नहीं है, शूरवीरता अपने विषयों के साधने में, विषयों के संचय करने में नहीं है, किन्तु शूरवीरता है सर्वविकार, सर्व दोषों से परे रहकर अपने आपमें मग्न हो जाने में। ऐसा शूर यह ज्ञानी परमार्थ प्रतिक्रमण कर रहा है।

गाथा ७८

णाहं मग्गणठाणो ण गुणट्ठाणो ण जीवठाणो वा।।
कत्ता ण-ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७८।।

आत्मस्वरूप में मार्गणास्थानों का अभाव- मैं मार्गणास्थान नहीं हूं, न गुणस्थान हूं और न जीवस्थान हूं। मार्गणास्थान तो ये हैं- गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा, योगमार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, संयममार्गणा, दर्शनमार्गणा, लेश्यामार्गणा, भव्यत्वमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा, संज्ञित्वमार्गणा और आहारकमार्गणा। इन मार्गणास्थानों में कोई स्थान तो विकृत है और उन विकृतों में भी कोई स्थान तो है पुद्‌गलप्रधान और कोई स्थान है जीवभावप्रधान। और इसके अतिरिक्त एक-एक

स्थान प्रत्येक मार्गणा में है शुद्ध पर्याय का स्थान। तो चाहे विकाररूप भाव हो, चाहे पुद्गल प्रचय सम्बंधित स्थान हो और चाहे शुद्धस्वभाव परिणमन का स्थान हो, वे सभी स्थान इस अंतस्तत्त्व में नहीं हैं अर्थात् वे जीव के स्वभावरूप नहीं हैं।

जीवस्वरूप में गतिमार्गस्थान का अभाव- नरकगति क्या यह जीव का स्वरूप है? और तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति- ये भी जीव के स्वरूप नहीं हैं और गतिरहित हो जाना यह भी जीव का स्वरूप नहीं है। जीव का स्वरूप तो ज्ञायक स्वरूप है, ज्ञानानन्द है, सच्चिदानन्द है, ये तो उसकी विशेषताएँ बतायी जाती हैं कि ये अमुक प्रकार हैं, गतिरहित आदिक। ऐसे ही सभी मार्गणावों में देख लीजिए, कोई भी मार्गणा के स्थान इस जीव के स्वरूप नहीं हैं।

आत्मस्वरूप में इन्द्रिय मार्गणास्थान का अभाव- इन्द्रियजाति मार्गणा ६ है, उनमें से क्या एकेन्द्रिय होना जीव का स्वरूप है? नहीं। दो इन्द्रिय होना, तीन इन्द्रिय होना, चार इन्द्रिय होना पाँच इन्द्रिय होना यह कोई जीव का स्वरूप नहीं है। और इन्द्रियरहित होना, यह भी जीव का स्वरूप नहीं है। हालांकि इन्द्रियरहित होना बहुत ही सुन्दर बात है, भली बात है, निर्वाण की बात है पर जीव का जहां स्वरूप बताया जाय वहां स्वरूप कहना चाहिए। न तो भली स्थिति से उसका मतलब है और न बुरी स्थिति से उसका मतलब है। जैसे पूछें कि इस चौकी का स्वरूप क्या है? और कोई यह कहे कि गंदी रहना यह है चौकी का स्वरूप तो क्या यह उत्तर ठीक है? ठीक नहीं है। चौकी का स्वरूप गंदी रहना नहीं है। और कोई कहे कि गंदगी से रहित रहना चौकी का स्वरूप है, तो यह भी गलत है। यह तो मुकाबलेतन इसकी विशेषताएँ हैं। यदि विकार न होता तो स्वच्छता की क्या प्रशंसा थी? भगवान सिद्ध बड़े हैं, उनको बड़ा बनाया है तो हम संसारियों ने बड़ा बनाया है। हम लोग बुरे हैं, गंदे हैं, विषयकषायों में रत हैं तब वे भगवान बड़े कहलाते हैं। मान लो कदाचित् सभी आत्मा धर्मद्रव्य की तरह स्वच्छ हों, तो उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा है? बड़े को बड़ा छोटे ही बनाते हैं, छोटा न हो तो बड़ा क्या? छोटे बड़े जैसे मुकाबलेतन होते हैं। ऐसे ही विकारभाव होना, निर्विकारभाव होना यह भी मुकाबलेतन चीज है, वस्तु का स्वरूप नहीं है। जीव का स्वरूप है शुद्धज्ञायकस्वरूप अथवा मुख से ही नहीं कह सकते, जो है सो ही है।

जीवस्वरूप में कायमार्गणा का अभाव- कायमार्गणा ६ हैं? नहीं। उनमें क्या पृथ्वीकाय जीव का स्वरूप है? नहीं है। न पृथ्वीकाय, न जलकाय, न अग्निकाय, न वायुकाय, न वनस्पतिकाय और न त्रसकाय ये जीव के स्वरूप नहीं है। बल्कि इस भेद में पुद्गल की प्रधानता है। होता तो है यद्यपि जीव के संसर्ग से, मगर काय में पुद्गल प्रचय की प्रधानता है। ये जीव के स्वरूप नहीं हैं। फिर क्या कायरहित होना जीव का स्वरूप है? कायरहित होना भी जीव का स्वरूप नहीं है। यह तो एक निर्विकार शुद्ध स्वच्छ परिणमते हुए जीव की विशेषता कही जा रही है। मैं तो एक चित् स्वभाव मात्र हूं, न कायसहित हूं, न कायरहित हूं। ये जो आप जीवस्थान पढ़ते हैं और जितने भेदों का यह वर्णन है उस वर्णन से हमें आध्यात्मिक दिशा क्या मिलेगी अंत में चलकर? वह यही दिशा मिलेगी जो इस गाथा में कही जा रही है। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, मैं मार्गणास्थान रूप नहीं हूं। यों ही योगमार्गणा की बात निरखिये। ४ मनोयोग, ४ वचनयोग और ७ काययोग। ये १५ योग है। क्या इन योगों रूप रहना मेरा स्वरूप है? नहीं है। और योगरहित होना वह तो एक विशेषता है, उसका स्वरूप नहीं है। मेरा ही तो शुद्ध तत्त्व निज स्वभावमात्र है।

जीवस्वरूप में वेदमार्गणा का अभाव- वेदमार्गणा में पुरुषवेद, क्या यह जीव का स्वरूप है? नहीं है। ऐसे भाव होना, स्त्री में अभिलाषा पहुंचना, यह क्या कोई जीव के स्वभाव की बात है। स्त्रीवेद क्या यह जीव का स्वरूप है? नहीं है। अथवा नपुंसक वेद, क्या यह जीव का स्वरूप है? नहीं है। तो क्या अपगत वेद होना यह जीव का स्वरूप है? अपगतवेद होना भी जीव का स्वरूप नहीं है। यद्यपि अपगतवेद होना शुद्ध है, पर स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप तो वह हुआ करता है जो अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत अन्तर में प्रकाशमान् हो। जैसे चौकी का स्वरूप वह है जो गंदी होने पर भी हो और साफ स्वच्छ धुल जाने पर भी हो। यों ही जीव का स्वरूप वह है जो शाश्वत है, अशुद्धपर्याय की अवस्था में भी है और शुद्धपर्याय की अवस्था में भी है। तो वेदमार्गणा के स्थान हैं वे सब भी मेरे स्वरूप नहीं हैं।

जीवस्वरूप में कषायमार्गणा का अभाव- कषायमार्गणा के स्थान इन्हें तो प्रकट ही लोग मना कर सकते हैं। कषाय करना क्या जीव का स्वरूप है? अनंतानुबंधी क्रोध होना जो मिथ्यात्व को बढ़ाये, सम्यक्त्व न होने दे, जो वर्षों तक, भव भवांतरों तक अपने संस्कार बनाये ऐसी कषाय होना क्या जीव का स्वरूप है? अणुव्रत का घात करने वाले देशव्रत को न होने देना,

अप्रत्याख्यानावरण कषाय होना क्या जीव का स्वरूप है? या महाव्रत को रोकने वाला, सकलसंन्यास के भाव का आवरण करने वाला प्रत्याख्यानावरण कषाय क्या जीव का स्वरूप है? नहीं है। और संज्वलन जैसी कषाय क्या यह जीव का स्वरूप है? नहीं है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय- इन चार प्रकार के संयमों के साथ भी रहने वाले जो कषाय हैं वे भी जीव के स्वरूप नहीं हैं। न हास्यादिक जीव के स्वरूप है। फिर क्या कषायरहित होना जीव का स्वरूप हैं? यह भी जीव का स्वरूप नहीं है। जीव के स्वरूप की जानकारी में सबसे अधिक कठिनाई पड़ती है? शुद्ध विकास भी जीव का स्वरूप नहीं है इसके निर्णय में। कषायरहित भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूप में ज्ञानमार्गणा का अभाव- अच्छा ज्ञानमार्गणा में और देखिये मतिज्ञान जीव का स्वरूप नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर होता है, ऐसे ही श्रुतज्ञान भी जीव का स्वरूप नहीं है, अवधिज्ञान यद्यपि आत्मीय शक्ति से होता है, लेकिन वह भी अपूर्ण है, अवधिज्ञानावरण के क्षयोपयाम के निमित्त से होता है, साथ ही वह ज्ञान मर्यादित है तथा केवल रूपी पदार्थों को ही जानने वाला है। अवधिज्ञान भी जीव का स्वरूप नहीं है, मनःपर्ययज्ञान भी नहीं है और ऐसा भी जानें कि यह केवलज्ञान भी जीव का स्वरूप नहीं है। यहां जरा अड़चन पड़ेगी। ऐसा वह ज्ञान जो तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानता है, असीम जानता है, निमित्त पाये बिना जानता है, शुद्ध पर्याय है, फिर भी यह जीव का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण तो वह ज्ञानस्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव है जिसका कि केवलज्ञानरूप शुद्ध परिणमन चल रहा है वह परिणमन स्वभाव के अनुरूप है। इस कारण स्वभाव में और उस शुद्ध विकास में अन्तर समझना कठिन हो रहा है, पर स्वभाव तो है अनादि अनन्त और यह शुद्धविकास है अन्त में प्रकट हुआ।

जीवस्वरूपपरिज्ञान की विधि में एक दृष्टान्त- जैसा पूछा जाय कि सूर्य का स्वरूप क्या है? बादल आड़े है, उनमें कुछ बादल हट जाने से कभी ५० कोश तक उजाला चला और कभी हजार कोश तक उजाला चला और कभी बिल्कुल बादल हट जाने से मानो करोड़ों कोश तक उजाला चला। अब पूछा जाय कि क्या ५० कोश तक उजाला रखना सूर्य स्वरूप है? क्या सैकड़ों हजारों कोश तक उजाला रखना सूर्य का स्वरूप है? अथवा करोड़ों कोश तक उजाला रखना सूर्य का स्वरूप है? सूर्य का स्वरूप तो जितना सूर्य है उसमें ही पाया जाता है। सूर्य का प्रकाश पूरा प्रकट हो जाना, कम प्रकट रहना यह सूर्य की बात नहीं है। कम प्रकट हो तब भी सूर्य का स्वरूप सूर्य में है, पूरा प्रकट हो तब भी सूर्य का स्वरूप सूर्य में है, ऐसे ही ज्ञान प्रकट हो तब भी आत्मा का ज्ञानस्वभाव वही का वही पूर्ण है और कभी केवलज्ञान भी प्रकट हो तो कहीं स्वभाव में वृद्धि नहीं हो गयी? स्वभाव तो वही का वही है। इस तरह शुद्ध अशुद्ध पर्याय का स्रोतभूत स्वभावरूप मैं हूं, ऐसी समझ बने ऐसा इसका जानना आध्यात्मिक प्रयोजन है।

जीवस्वरूप में संयममार्गणास्थानों का अभाव- ऐसे ही संयममार्गणा जीव का स्वरूप नहीं है। सामायिक संयम जो कि छठे गुणस्थान से ९ वें गुणस्थान तक चलता है वह परिणमन भी यद्यपि लोगों के लिए पूज्य है, फिर भी इस जीव का स्वरूप नहीं है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय यहां तक तो इस संयमी के साथ कषायभाव भी बना हुआ है, पर जहां कोई कषाय नहीं रही ऐसा जो यथाख्यात चारित्र है वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। असंयम भी जीव का स्वरूप नहीं है। संयमासंयम भी जीव का स्वरूप नहीं है, और इन सबसे रहित रहना, किसी में भी वृत्ति न जगना ऐसी स्थिति है यह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूप का विधि द्वारा परिचय- जीव का स्वरूप न से नहीं जाना जा सकता है, किन्तु विधि से जाना जा सकता है। किसी मनुष्य की पहिचान कराना हो और यहां यह कहो कि आप इन्हें जानते हैं? ये इनके मामा नहीं, इनके दादा नहीं, इनके चाचा नहीं, नहीं ही नहीं की बात बताते जावो तो मनुष्य की पहिचान क्या पकड़ में आयेगी। अरे कुछ हां की बात तो कहो, क्या है? तो ये सब नन्न की बातें हैं, गतिरहित, इन्द्रियरहित, कायरहित। तो यों न से जीव का स्वरूप नहीं जाना जाता है, स्वरूप को तो विधि की बात से कहो क्या है और विधि की बात में भी जो शाश्वत हो वह बोलो, अशाश्वत न बोलो। न विकार बोलो, न निर्विकार बोलो किन्तु सत्त्व का जिससे सम्बन्ध है, सत्त्व में जो कुछ भरा पड़ा है उसको बतावो। वह है स्वरूप पदार्थ का, इस दृष्टि से निरखते जाइए तो मार्गणास्थान जीव का स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूप में चक्षुदर्शन का अभाव- दर्शनमार्गणा भी मेरे जीव का स्वरूप नहीं है। चक्षुदर्शन आंखों से देखना क्या यह जीव का स्वरूप है? नहीं है। चक्षुदर्शन का क्या अर्थ है, जरा ध्यान देकर सुनो। आंखों से जो समझा है वह चक्षुदर्शन नहीं है, आंखों से जाना रूपरंग, यह चक्षुदर्शन नहीं है। यह तो ज्ञान है। इसे बोलेंगे चाक्षुषज्ञान। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय में तो आँख भी है तो आँख के निमित्त से जो ज्ञान होगा वह चक्षुदर्शन नहीं है, वह मतिज्ञान है। चक्षुदर्शन क्या है? आंखों के निमित्त से जो जानकारी हो रही है जिसे लौकिक लोग देखना कहते हैं, उस रूप के ज्ञान से पहिले आत्मा ने जो अपने में जानने के लिए शक्ति प्रकट की है उसका नाम है चक्षुदर्शन। आंखों से देखने का नाम चक्षुदर्शन नहीं, वह तो ज्ञान है।

दर्शन के स्वरूप का परिचय व दर्शनमार्गणा का जीवस्वरूप में अभाव- भैया ! दर्शन की बात ऐसे समझ लो कि जैसे हम अभी पेटी को जान रहे हैं और पेटी का जानना छोड़कर हम इस द्रव्य को जानने चले तो ऐसी स्थिति में क्या होगा कि पेटी का जानना छूटा और फिर दूसरी चीज को जानने के लिए बल प्रकट करने का यह उपयोग कुछ आत्मा की ओर मुड़ा जिसे अज्ञानी जन आंक नहीं सकते, फिर उसके बाद बेंच जाना। पेटी का जानन छोड़कर सीधा बेंच को नहीं जाना। पेटी जाना, फिर आत्मा की और शक्ति ग्रहण की अन्य चीजों को जानने के लिए, फिर अन्य चीज को जाना। तो आंखों से जो बेंचरूप जाना उससे पहिले जो शक्तिग्रहण हुआ वह है चक्षुदर्शन। ऐसे ही कान से सुना वह ज्ञान है। उस सुनने के ज्ञान से पहिले जो शक्ति ग्रहण की वह है कर्णदर्शन। नाक से जाना उससे पहिले जो शक्ति ग्रहण की वह है घ्राणदर्शन। बना डालो 6 दर्शन। पाँच इन्द्रिय और एक मन, उनके निमित्त से जो ज्ञान होता है उससे पहिले जो शक्ति ग्रहण है वह है दर्शन। किन्तु इस दर्शन को दो में शामिल किया गया है। आंखों के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन के ज्ञान से पहिले जो दर्शन होते हैं, उन सब दर्शनों का नाम अचक्षुदर्शन है। ऐसे ही अवधिदर्शन। अवधिज्ञान से पहिले जो शक्ति ग्रहण है, आत्मस्पर्श है, आत्मावलोकन है वह अवधिदर्शन है। यहां तक तो दर्शन ज्ञान से पहिले हुआ करता है पर केवलदर्शन केवलज्ञान एक साथ होता है, क्योंकि प्रभु परिपूर्ण समर्थ है, उसे पदार्थ के जानने के लिए शक्तिग्रहण नहीं करना है। प्रभु के शक्ति सदा प्रकट है सो शक्ति भी सदा है, जानन भी सदा है, आत्मावलोकन भी सदा है, वह एक साथ हुआ करता है। ये समस्त दर्शनमार्गणास्थान भी जीव के स्वरूप नहीं हैं।

अंतस्तत्त्व में लेश्यामार्गणास्थानों का अभाव- लेश्यामार्गणा के स्थान ७ हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और लेश्यारहित। बैर बांधना, खोटे वचन बोलना आदिक जो कृष्णलेश्या के लक्षण हैं क्या वे जीव के स्वरूप है? नहीं हैं। यों ही परिग्रहासक्त होना, दूसरों की निन्दा करना, दोषग्रहण करने का स्वभाव रखना आदिक नीललेश्या के लक्षण हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं। स्तुति सुनने पर राजी होना और स्तुति के कारण अथवा नामवरी के प्रयोजन से रण तक में भी अपने प्राण गंवा देना आदि जो कापोतलेश्या के लक्षण हैं वे भी जीव के स्वरूप नहीं है। यों ही पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या में शुभ भाव चलते हैं। सद्वृत्ति से रहना, पक्षपात न करना, सबमें समानता रखना आदि जो मंदकषाय के लक्षण हैं वे भी जीव के स्वरूप नहीं है। ये सब विकार परिणाम हैं। कोई शुभ है, कोई अशुभ है। लेश्या से रहितपना भी जीव का स्वरूप नहीं है। वह तो एक बाह्यतत्त्व की अपेक्षा लेकर निषेध वाली बात कही गयी है।

चित्स्वरूप में भव्यत्वमार्गणास्थानों का अभाव- भव्यत्व मार्गणा तीन होती हैं- भव्य, अभव्य, अनुभय। भव्य का अर्थ यह है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से परिणत हो सकने के योग्य है वह है भव्य तथा भव्य के भाव का नाम है भव्यत्व। और जो योग्य नहीं है उसे कहते हैं अभव्यत्व। ऐसी योग्यता का होना अथवा न होना ये दोनों भाव स्वभावरूप नहीं हैं। स्वभाव तो वह है जो विधिरूप है और सदा प्रकाशमान् है। अभव्य को तो कोई स्वीकार करेगा ही नहीं कि यह जीव का स्वभाव है, किन्तु भव्यभाव भी जीव का स्वरूप नहीं है, इसका भी विनाश हो जाता है। जब मुक्त अवस्था होती है तो भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है। सूत्रजी में लिखा है 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च।' निर्वाण के समय भव्यत्व अवस्था का क्षय हो जाता है वहां भी अनुभय कहलाता है। न वह भव्य है, न अभव्य है। भव्य और अभव्य दोनों स्थितियों से न्यारा रहना यह भी जीव का स्वरूप नहीं है। अनुभय शब्द क्या कोई विधिरूप वाचक है। जीव का तो वह स्वभाव है जो स्वयं तो परिवर्तित

न हो, वह तो वही का वही रहे, किन्तु उसके परिणमन में षड्गुणहानि वृद्धियां हुआ करें। षड्गुण हानि वृद्धि रूप से होने वाले शुद्ध परिणमनों का श्रोतभूत जो स्वभाव है वह जीव का स्वरूप है।

सम्यक्त्वमार्गणा में औपशमिक सम्यक्त्व का विवरण- सम्यक्त्व मार्गणा ६ बताये गये हैं जिसमें तीन सम्यक्त्व हैं- औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियों का उपशम हो तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व सम्बन्ध में जरा और विशेष जानो। जिस जीव को आज तक सम्यक्त्व नहीं हुआ अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है उस जीव के ७ प्रकृतियों की सत्ता नहीं होती। इन सात में से सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति– इन दो का भी बंध नहीं होता है। फिर ये आ कैसे जाते हैं जीव में इनके सत्त्व कैसे हो जाते हैं? यह अभी बतावेंगे। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव में सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियों मात्र ५ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। वहां सम्यक्त्व घातक इन ५ प्रकृतियों में से अनंतानुबंधी चार और मिथ्यात्व प्रकृति इनके उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है। जब इन पांचों का उपशम होता है और उपशम सम्यक्त्व जिस समय होता है उस ही समय में उस सम्यक्त्व परिणाम के बल से चूँकि मिथ्यात्व का विनाश नहीं हुआ है उपशम सम्यक्त्व में वह दबा पड़ा हुआ है। उपशम सम्यक्त्व के प्रथम क्षण ही इस ही सम्यक्त्व परिणाम के बल से मिथ्यात्व को दल दिया जाता है और उस काल में मिथ्यात्व के दलन से कुछ तो चूरा बन जाता है, वह तो हुई सम्यक्त्व प्रकृति और कुछ खण्ड-खण्ड बन जाता है वह हुआ सम्यग्मिथ्यात्व और कुछ वही का वही बना रहे यह हुआ मिथ्यात्व।

दृष्टान्तपूर्वक मिश्र व सम्यक्त्वप्रकृति की सत्ता होने का विधान- जैसे जांत में चने दले जाते हैं तो उस दले की स्थिति में कुछ तो भूसी बन जाती है जिससे रोटियां बन सकती हैं और कुछ दाल बन जाती है दो टुकड़े वाली और कोई-कोई बिरला चना भी साफ निकल आता है। तो जैसे चने के दलने में तीन बातें हो जाती हैं, इसी तरह सम्यक्त्वपरिणाम की चक्की चलने में इस मिथ्यात्व का दलन होता हैं। कुछ मिथ्यात्वप्रकृति के मिथ्यात्व ज्यों के त्यों रह जाते हैं, कुछ सम्यग्मिथ्यात्व हो जाते हैं, कुछ सम्यक्प्रकृति हो जाते हैं। अब लो यह उपशम सम्यक्दृष्टि जीव के ७ प्रकृतियों की सत्ता है। यह उपशम सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में आ जाय तो उस मिथ्यादृष्टि के भी 7 प्रकृतियों की सत्ता रहेगी। उसका नाम है सादि मिथ्यादृष्टि। यों समझ लीजिए। करोड़-करोड़ों वर्षों तक सातों प्रकृतियों की सत्ता रहेगी।

वेदककाल, उद्वेलन और पुन: प्रथमोशम हो सकने का समय- अब पल्य के असंख्यातवें भाग काल में मानों करोड़-करोड़ वर्षों में कोई सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो क्षयोपशम सम्यक्त्व हो सकता है। चाहे उपशम सम्यक्त्व के तुरन्त बाद कर ले या करोड़ों वर्षों में अनगिनतें वर्षों में कभी कर ले, उस काल को वेदन काल बोला करते हैं। इतना काल गुजर चुका, फिर क्या होने लगता है कि सम्यक्त्व प्रकृति बदलकर सम्यग्मिथ्यात्व बन जाता है। इस जगह इसे ६ प्रकृतियों की सत्ता है, अनंतानुबंधी चार मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व कुछ ही समय बाद सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी बदलकर मिथ्यात्वरूप हो जाती है। अब इसकी ५ प्रकृतियों में ही सत्ता रह गयी, अब वह प्रथमोपसम्यक्त्व फिर पैदा कर सकेगा।

अन्तस्तत्त्व में उपशमसम्यक्त्वस्थान का अभाव- यह सम्यक्त्व परिणाम यद्यपि जीव के श्रद्धा गुण के शुद्ध विकास को लिए हुए है, फिर भी इसमें उपशम है और आपेक्षिक भाव है, मर्यादित काल है। ऐसा उपशम सम्यक्त्व होना जीव का स्वरूप नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम है प्रथमोपशम सम्यक्त्व। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के बाद जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह है द्वितीयोपशमसम्यक्त्व- ये दोनों ही जीव के लक्षण नहीं हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में उदयाभावी क्षय- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की बात सुनिये। सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियों में से ६ प्रकृतियों का तो उदयाभावी क्षय हो जाय व आगामी उदय आ सकने योग इन्हीं ६ का उपशम हो जाय व सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाय तो वेदक सम्यक्त्व हो जाता है। उदयाभावी क्षय वाली वे कौनसी ६ प्रकृतियां हैं- अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति इनका है उदयाभावी क्षय। उदयाभावी क्षय का सीधा अर्थ यह है कि उदय में आये फिर भी फल न दे। यहां एक शंका यह हो सकती है कि यह कैसे हो सकता है कि उदय में आये और फल न दे। इसका समाधान यह है कि ये उदयावली में तो आ गये, इसलिए उदय में आये कहलाते हैं, किन्तु उदय का जो क्षण है,

एक समय है उससे पहिले इन ६ प्रकृतियों का स्तिबुक संक्रमण हो जाता है। इस कारण यह भी कह सकते हैं कि उदय से पहिले संक्रांत हो गये इसलिए उदय में नहीं आये किन्तु उदयावली में आये इसलिए उदय में नहीं आये।

स्तिबुक संक्रमण का विवरण- स्तिबुक संक्रमण बड़ा घोर वा पूर्ण संक्रमण कह लीजिए। संक्रमण मायने बदल जाना। उदयावली का एक आवली काल होता है। एक आवली काल में अनगिनते समय होते हैं। उन अनगिनते समयों में से आखिरी समय से पहिले इन सारे अनगिनते समयों में याने उदयावली में अब उनको कोई धोखा नहीं रहना चाहिये, वे सही रहें क्योंकि उदयावली में प्रवेश हो गया, उनका इन्टरव्यू हो चुका, किन्तु अब ठीक मौके पर उदयकाल के समय पर उनका बदलना हो गया, अब इसके यह प्रकृति नहीं रही, अन्य प्रकृतिरूप से वे उदय में आये। उदयाभावी क्षय में यह होता है, इतनी जो यथार्थ बात है। इसे सीधे शब्दों में यों कह लीजिए कि उदय में आयें और फल न दें, इसका नाम है उदयाभावी क्षय।

वेदक सम्यक्त्व में उपशम और उदय- और मान लो उदय में आये और फल न दे यह तो हो गया, किन्तु उदीरणा इनकी हो जाय तो जो अगले समय विपाक के लिए पड़े हुए है इसके समय से पहिले यदि उदीरणा हो जाय तो तब तो सम्यक्त्व ही बिगड़ जायेगा ना, तो साथ ही अगले समय में उदय में आ सकने योग्य इन्हीं 6 प्रकृतियों का उपशम भी होना चाहिए। यह भी कैद हो जाय कि ये अब इस समय तक उदय में नहीं आ सकते। अब रह गयी एक सम्यक्त्व प्रकृति, उसका उदय हो तो बनता है क्षयोपशम सम्यक्त्व।

क्षयोपशम सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व में अन्तर- क्षयोपशम सम्यक्त्व में और वेदकसम्यक्त्व में थोड़ा अन्तर है। मगर वह अन्तर बड़े तत्त्व ज्ञान की ऊँची चर्चा करते समय बताया जाता है। वहीं इसका उपयोग होता है, इस कारण चाहे वेदक सम्यक्त्व कहो, चाहे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहो एक ही अर्थ में प्रसिद्ध है। वेदक सम्यक्त्व उसे कहते हैं जिस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहा करता है जहां चल, मलिन, अगाढ़ दोष रहा करते हैं, वेदन नाम उदय का है, वेदन नाम फल भोगने का है। जहां सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका बहुत लम्बा काल है। ६६ सागर काल पर्यंत तक वेदक सम्यक्त्व रहा करता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तब कहलाता है जब क्षायक सम्यक्त्व की तैयारी कर रहा हो जीव। क्षायिक सम्यक्त्व की तैयारी करते हुए में कुछ समय तक तो सम्यक्त्व प्रकृति का उदय चलता है, , फिर उसके सम्यक्त्व प्रकृति का उदय नहीं रहता और क्या हुआ करता है? कर्मों की छांट, उन प्रकृतियों का क्षय। उन प्रकृतियों का क्षय यों चलता हैं कि अनंतानुबंधी की पूर्ण विसंयोजना कर दे। अप्रत्याख्यानावरण हो गया, अनंतानुबंधी का क्षय हो गया, मिथ्यात्व की निर्जरा हो गयी, मिथ्यात्व का क्षय हो गया। सम्यक्मिथ्यात्व सम्यग्प्रकृति रूप बन गया। लो यों सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय हो गया और सम्यग्प्रकृति का सीधा क्षय किया जाता है। सर्व संक्रमण करके गुणश्रेणी निर्जरा में क्षय कर दिया जाता है, ऐसी उन ७ प्रकृतियों के क्षय के समय में चूँकि जब सम्यग्प्रकृति का वेदन नहीं होता है इस कारण तब वेदक सम्यक्त्व नहीं कहा जा सकता है; किन्तु जब तक पूर्ण क्षय सातों का नहीं हो जाता है तब तक क्षायोपशमिक कहलाता है। यों-यों क्षायोपशमिक सम्यक्त्व व वेदक सम्यक्त्व में अन्तर है।

कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि- वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की जब यह जीव तैयारी कर रहा है उस तैयारी में जितना समय लगता है उन समयों में पहिले तो पहिले समय तक सम्यक्त्वप्रकृति का वेदन चलता है, पश्चात् वेदन नहीं रहा। उस तैयारी के बीच में मान लो उस काल के ६, ७ हिस्से कर लो। उनमें से मानो पहिले हिस्से में मरते नहीं, अगले हिस्से में मरे तो वह नारक तिर्यंच, मनुष्य, देव इनमें से किसी भी गति में पैदा हो सकता है। यहां वे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं, फिर इसके बाद के चरण में मरे तो वहां मनुष्य तिर्यंच और देव- इन गतियों में जन्म हो सकता है उसके बाद के चरण में गुजरे तो वह मनुष्य व देव गति में ही उत्पन्न हो सकता है। इसके बाद के चरण में गुजरे तो वह देवगति में उत्पन्न हो सकता है। ऐसे बीच में गुजरने वाले जीवों के क्षायक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो चुका अभी। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ तो करेगा मनुष्यभव में और क्षायक सम्यक्त्व की पूर्णता करेगा नरकगति में, तिर्यंचगति में, मनुष्यगति में, या देवगति में क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ मनुष्य ही कर सकता है। ऐसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नरक में जायेंगे तो पहिले ही नरक जायेंगे। तिर्यंच में पैदा हो गये तो भोगभूमिया तिर्यंच में मनुष्य में उत्पन्न हो गए तो भोगभूमिया मनुष्य में और देव में पैदा हो गए तो वे तो स्वर्गों में ही पैदा होते है और ऊपर भी।

क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व स्थानों का भी चित्स्वभाव में अभाव- ऐसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व यद्यपि आत्मा के श्रद्धा गुण का शुद्ध विकासरूप भाव है, किन्तु क्षायोपशमिक रूप होने से वेदक होने से मर्यादा होने से यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भाव भी जीव का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण तो क्षायिक सम्यक्त्व जैसे शुद्ध विकास को भी नहीं बताया है। बतलावो उसमें क्या कमी रह गयी? सातों प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय हो चुका है। निर्दोष सम्यक्त्व है। अन्य सम्यक्त्वों की तो बात क्या, क्षायक सम्यक्त्व भी अन्तस्तत्त्व में नहीं है। नहीं है इसलिए जीव में ये सम्यक्त्व के स्थान नहीं होते हैं।

जीव में मिथ्यात्व और सासादन स्थान का अभाव- सम्यक्त्व मार्गणा में अंतिम तीन स्थान है मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व। मिथ्यात्व भाव, मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होता है। इसमें तो बिल्कुल विपरीत आशय होता है। यह तो जीव का स्वरूप हो ही नहीं सकता। सासादन भाव सम्यक्त्व से गिरने पर और मिथ्यात्व में न आ पाने तक जो मध्य की स्थिति है वह भी है खोटा ही आशय, उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। सासादन सम्यक्त्व में ऐसा स्वाद है जैसे समझो वमन करते समय जो जिव्हा पर स्वाद हो उस ढंग का, अर्थात् कहने को तो यह है कि भोजन मुख में है मगर वह वमन के समय का स्वाद है, यों ही सम्यक्त्व के वमन का स्वाद है। सम्यक्त्व नाममात्र के लिए नहीं है इसलिए इसका नाम है सासादन सम्यक्त्व। सासादन का क्या अर्थ है? असासादनसहित सासादन। आसादन मायने है विघात। जहां सम्यक्त्व का विघात हो गया उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। सासादन सम्यक्त्व नाम सुनकर कोई यह न सोचे कि चलो हमारे कोई तो सम्यक्त्व अंश है पर जैसे किसी को कह दिया जाय निर्धन और वह राजी हो कि हमारे सम्बोधन में इतने धन तो लगा दिया, तो वह राजी होना मूर्खतापूर्ण है, इसी तरह सासादन सम्यक्त्व में कुछ राजी होना मूर्खतापूर्ण है। मिथ्यात्व के भाव और सासादन के भाव में मात्र थोड़ा अन्तर है वह कहने सुनने का। अनन्तानुबंधी के उदय से सम्यक्त्व का घात हो जाता है और मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व प्रकट होता है। सासादन का भी भाव खोटे भाव का है, यह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीव में सम्यग्मिथ्यात्व स्थान का अभाव- सम्यक्मिथ्यात्व में कुछ सम्यक्पना कुछ मिथ्यात्व भाव ऐसा मिश्रण है कि जिसे न केवल सम्यक्त्व कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्व कह सकते है। जैसे दही गुड़ मिलाकर खाने में जो स्वाद होता है, उसमें न केवल दही का स्वाद है और न केवल गुड़ का स्वाद है, ऐसा ही मिश्रण रूप भाव यह सम्यग्मिथ्यात्व है, यह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीव में संज्ञित्वमार्गणास्थानों का अभाव- संज्ञीमार्गणा में ३ स्थान हैं- संज्ञी, असंज्ञी और अनुभय। मन है, विवेक है, हित अहित का विचार करने की योग्यता है उस जीव को कहते हैं संज्ञी, ऐसे विचार करने की योग्यता हो जाना यह भी जीव का स्वरूप नहीं है। यह भी विकृत अवस्था की बात है। जीव का स्वरूप तो शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहने का है। जहां हित अहित का विचार नहीं हो सकता है ऐसे परिणाम को असंज्ञित्व कहते हैं। यह भी जीव का स्वरूप नहीं है और जहां न संज्ञी रहा, न असंज्ञी रहा ऐसा अनुभयपना भी जीव का स्वरूप नहीं है। यह अनुभयपना अयोगकेवली सयोगकेवली और सिद्ध भगवंतों के होता है। जैसे भव्यत्व का अनुभय कोई विधिरूप नहीं है, जीव का स्वरूप नहीं है यों ही यह अनुभय जीव का स्वरूप नहीं है।

चित्स्वरूप में आहारकमार्गणा- आहारकमार्गणा के दो स्थान हैं आहारक और अनाहारक। जो आहारवर्गणावों को ग्रहण करता है सो वह आहारक है और जो आहारवर्गणावों को नहीं ग्रहण करता है सो अनाहारक है। आहारवर्गणा से औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर बनता है और श्वासोच्छ्वास भी इन वर्गणावों से होता है। इन्द्रिय रचना भी आहारकवर्गणावों से होती है। ये आहारक वर्गणाएं जिसके ग्रहण में आती हैं उसे-उसे आहारक कहते हैं और जब ग्रहण में नहीं आते हैं तब उसे अनाहारक कहते हैं। अनाहारक दशा मरने के बाद मोड़ों सहित विग्रह गति में होती है? अथवा केवली समुद्घात में प्रतर लोकपूरण और प्रतर इन तीन समयों में होते हैं। इन्हीं तीन समयों में जीव के कामार्णकाय योग होता है। १४ वें गुणस्थान वाले भी अनाहारक होते हैं। और सिद्ध भगवान भी अनाहारक होते हैं। ये दोनों ही स्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार ये १४ प्रकार के मार्गणा स्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं।

ज्ञानी पुरुष का चिन्तन- ज्ञानी पुरुष यहां चिन्तन कर रहा है कि मैं क्या हूं? अपने आपका शुद्ध स्वरूप जाने बिना यह अशुद्ध विभावों के विकारों को दूर नहीं कर सकता है। परमार्थप्रतिक्रमण तब तक हो ही नहीं सकता जब तक परमार्थस्वरूप का परिचय न हो। इस जीव ने अनादि काल से अब तक अनेक काम किये, अनेक विचार किये किन्तु अपने घर की सफाई भी

नहीं कर सका। रागादिक विकारों का कूड़ा कचरा ढेरों का ढेर इसमें भरा रहा। यद्यपि आत्मीय स्वच्छता का कार्य बहुत सरल है और विकार भावों का कार्य बहुत कठिन है, पराधीन है, नैमित्तिक है, किन्तु इस मोही जीव को पराधीन कार्य तो सुगम बन रहा है और स्वाधीन कार्य इसे कठिन हो रहा है। यह कठिन तब तक है जब तक इस जीव को आत्मीय सहज आनन्द का स्वाद नहीं आ जाता है। एक इस आत्मतत्त्व का परिचय होने पर फिर तो यह पंचेन्द्रिय के और मन के समस्त विषय असार प्रतीत होने लगते हैं। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। इस ही चैतन्य परिणमन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूं- ऐसी भावना जिन ज्ञानी संतों के होती है वे पुरुष भवभव के बटोरे गये विकार भावों को समाप्त कर देते हैं।

शुद्ध बोध और त्याग में शान्ति- भैया ! शुद्ध आनन्द जीव को आत्मतत्त्व के सहज स्वरूप के परिचय में ही मिलेगा। ये पंचेन्द्रिय के विषय भोग जो भोगते समय सार से दिखते हैं इनमें रंच भी सार नहीं है। आज तक कितने ही भोग भोगे, पर उनसे कुछ भी हाथ लगा हो तो बतावो। भवभव की तो बात जाने दो, इस भव में ही कितना काल भोगों में व्यतीत कर डाला, पर कोई तृप्ति भी आज है क्या? अशांति ज्यों की त्यों बनी हुई है। उन भोगों का परिचय होने से तृष्णा और बढ़ रही है। कोईसा भी विषय ले लो सब विषयों में असारता ही नजर आयेगी। कोई जन तो थोड़ासा ही चिंतन करने से, श्रवण करने से विषयों से विरक्त हो जाते हैं और कोई पुरुष उन भोगों का परिचय पा लेने पर उनमें असारता अनुभूत होने पर भोगों को छोड़ देते हैं और कोई पुरुष भोगों को भोगते ही जाते हैं और कभी भोगों से हटने का परिणाम भी नहीं करते। मरण होने पर ही वे भोगों से छूट पाते हैं।

एक दृष्टान्त में तीन तरह के पुरुष- एक कथानक है कि एक भंगिन मल का टोकना लिए जा रही थी। किसी सज्जन पुरुष ने सोचा कि इस टोकरे पर एक साफ तौलिया ढक दी जाय तो सड़कों पर बैठे हुए लोगों को तकलीफ न होगी, सो उस भंगिन से कहा लो यह तौलिया, मैंने तुम्हें बिल्कुल दे दिया। तुम इससे इस मल के टोकरे को ढक लो। वह बहुत साफ स्वच्छ तौलिया था। उसने ढक लिया। तीन पुरूषों ने देखा कि बहुत बढ़िया कपड़े से क्या ढका हुआ है, वे तीनों पुरुष पीछे लग गए। भंगिन कहती है कि तुम तीनों मेरे पीछे क्यों लग गए? वे उत्तर देते है कि इस टोकरे में कोई बढ़िया चीज रक्खी है हम उसे देखेंगे। भंगिन बोली- अरे बावलो ! लौट जावो, इस टोकरे में मल पड़ा हुआ है। एक पुरुष इतनी बात सुनकर लौट गया। दो पुरुष पीछे लगे रहे। भंगिन बोलती है कि तुम दोनों क्यों पीछे लगे हो? जवाब दिया कि हम तो नहीं मानेंगे जब तक देख न लेंगे और पक्का निर्णय न कर लेंगे कि हां इसमें मल है। भंगिन ने उस तौलिये को हटा दिया। तो उन दोनों में से एक देखकर लौट गया। तीसरे पुरुष को अभी विश्वास न हुआ। वह पीछे ही लगा रहा। भंगिन कहती है तुम क्यों पीछे लग रहे हो? तो वह तीसरा पुरुष बोला- यों देखने से हम न मानेंगे, हम तो उसकी परीक्षा कर लेंगे कि वास्तव में यह मल ही है तब लौटेंगे। अब उसने टोकरा खोला, उसने खूब सूँघ सांघ लिया। जब पक्का निर्णय हो गया तब उसको लौटने की बुद्धि आयी।

तीन प्रकृति के पुरुष- यों ही समझो कि तीन तरह के पुरुष इस लोक में हैं। एक तो वे हैं जो ऋषि संतों की देशना सुनकर भोगों से विरक्त हो जाते हैं, निज ब्रह्मस्वरूप में रत होने का यत्न करते हैं और एक वे पुरुष जो भोगों को भोगते हैं, अपना आधा अथवा और कुछ अधिक जीवन विषय भोगों में बिता देते हैं, और कभी क्लेश हों, कभी चिंताएँ हों अनेक रंग ढंग देखें, कुछ विवेक भी जगे तब उन्हें यह अनुभव होता कि मैं अकेला ही आया था और अकेला ही मरकर जाऊँगा, जो कुछ भी संचय किया है वह सब यहीं तो रह जाना है और जिस किसी भी पुत्रादिक को अपना उत्तराधिकारी माना है वह भी एक भिन्न चेतन है जैसे जगत् के अनेक जीव हैं उन ही जीवों की भांति अत्यन्त भिन्न स्वयं अपने स्वरूप और स्वार्थ में ही निरत है। उसका जैसा भाग्य होगा उसके अनुसार ही उसका पुण्योदय है तो आप न भी कुछ कर जायें तो भी वह सब कुछ कर सकता है और यदि पुण्योदय नहीं है तो आप जो वैभव रख जायेंगे उसे वह एक साल भी न संभाल सकेगा। तो फिर किसलिए धन वैभव का संचय करना? यह जीवन तो धर्मसाधन के लिए मिला है, मौज और भोगों के लिए नहीं है। भोग और मौज तो पशुपर्याय में भी पाये जा सकते हैं। पशुवों को देखा ही होगा। वे भी आहार, निद्रा, मैथुन आदि भोगने में मस्त रहा करते हैं। कुछ यों ही सोचकर दूसरे पुरुष भोगों से विरक्त होकर अपना शेष जीवन धर्मपालन में लगाते हैं, किन्तु तीसरे पुरुष वे हैं कि वृद्ध भी हो गए, भोग भोगते भी नहीं बनते हैं लेकिन भोगों की इच्छा नहीं त्यागी जा सकती है और किसी भी प्रकार

अपना मन पूर्ण करते हैं। न कषाय जा सकती हो, अग्नि मंद हो गयी हो, लेकिन फिर भी थोड़ी जीभ पर स्वाद तो ले ही लें। लेते हैं, खाते हैं, दु:खी होते हैं, भोग त्यागे नहीं जाते हैं। उनके भोग मरण होने के कारण छूटा करते हैं।

निज निधि की संभाल पर एक दृष्टान्त- विवेकी पुरुष वहां है जो इस दुर्लभ नर जीवन का लाभ लूट लें। जब देह भी नहीं रह गया तो अन्य समागम की अब चर्चा ही क्या करना है? जैसे किसी सेठ का लड़का छोटी उम्र का है, सेठ गुजर जाय। अब सरकार उस सेठ की जायदाद अपने अधिकार में रख लेती है कोर्ट आफ बोर्ड कर लेती है और उस बच्चे के पोषण के लिए सरकार व्यवस्था बनाती है, ५०० रु. महीना खर्चे के लिए उस बालक को सरकार देती रहती है। वह बालक सरकार के गुण गाता है, वाह सरकार बड़ी दयालु है, हमें घर बैठे ५०० रु. महीना देती है। जब वह बालक २०-२१ वर्ष का हुआ, लोगों ने उसे बताया, खुद भी समझा कि ओह मेरी १० लाख की जायदाद को सरकार ने कोर्ट आफ बोर्ड कर लिया है और मुझे ५०० रुपये मासिक देकर संतुष्ट करती है। वह इन ५०० रुपये में राज़ी नहीं होता है। वह सरकार को नोटिस दे देता है कि मुझे ५०० रुपये महीना न चाहिए, मैं अब बालिग हो गया हूं, मुझे जो मेरी १० लाख रूपये की जायदाद जो कोर्ट आफ बोर्ड कर ली गयी है वह चाहिए।

निज निधि की संभाल- यों ही जानो कि यह नाबालिग मिथ्यादृष्टि जीव थोड़ासा धन वैभव ठाट बाट, मान, प्रतिष्ठा पाकर कर्म सरकार के गुण गाता है, और जब इसे अपनी अनन्त निधि का पता चलता है तो यह कर्म सरकार को नोटिस दे देता है कि मुझे तो मेरी अनन्त निधि चाहिए। जब ऋषि संतों की देशना से अथवा अपने अनुभव से इसे कुछ पता पड़ता है अहो मेरा तो सहजस्वरूप है शुद्ध चैतन्य तत्त्व, केवल ज्ञातादृष्टा रहना मेरा काम है। मेरी अनन्त आनन्द की निधि को इस कर्म सरकार ने कोर्ट आफ बोर्ड कर लिया है, इसके ऐवज में हमें थोड़े भोग साधन मिले हैं, जब यह जीव बालिग होता है, ज्ञानी बनता है तब इन भोग के साधनों में उसका मन नहीं लगता है। ये सब क्लेश की चीजें विदित होती हैं। तब पुण्यसरकार को नोटिस दे देता है कि हमें तुम्हारे दिये भोग नहीं चाहियें। मुझे तो अपने आत्मीय वैभव से दरकार है। यों त्याग करके अपनी निधि पा लेता है।

आनन्द मिलन की रीति- भैया ! भोग भोगते हुए क्या कोई दु:खों से मुक्त हो सकता है? धन वैभव से लिप्त रहते हुए क्या कोई शांति प्राप्त कर सकता है? नहीं प्राप्त कर सकता है। गरीबों को देखो तो उनके माफिक दु:ख हैं, धनिकों को देखो तो वे अपने माफिक चिंताएँ बनाए हुए हैं। अरे आत्मन् ! यदि तुम संसार के समस्त संकटों से मुक्त होना चाहते हो तो अपने आपमें बसे हुए इस प्रभु के दर्शन करो। इन समस्त परवस्तुवों की ओर से उपयोग को तो दूर करो। देख तेरा ही स्वरूप अनन्त ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है। तेरे को कहीं भी क्लेश नहीं है। तू बना-बना कर क्लेश पा रहा है। तू जैसा है तैसा ही अपने को मान तो सारे क्लेश तेरे समाप्त हो जायेंगे। तू तो केवल चिदानन्दस्वरूप है, केवलज्ञान मात्र है, किसी भी परवस्तुविषयक विकल्प होता हो तो उसे तू शत्रु मान। जगत् के किसी भी जीव को तू शत्रु मत मान। कोई तेरा शत्रु नहीं है किन्तु अपने में ही जो परवस्तुविषयक भली अथवा बुरी कल्पनाएँ जगती हैं, जो भी अनुराग उठता है उस राग भाव को तू शत्रु मान, उससे निवृत्त हो और अपने को केवल ज्ञानमात्र अनुभव कर। देख तेरा आनन्द स्वयमेव प्रकट हो जायेगा।

अपराध से मुक्ति में शांति- भैया ! कुछ क्षण ज्ञानमय तो रहकर देख, फिर आनन्द न मिले तो कह। ज्ञाता द्रष्टा रहने, मात्र जाननहार रहने से ही आनन्द है। इस जीव ने किसी परवस्तु में कुछ ममत्व किया कि यह मेरा है, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरा जीवन चलेगा बस इसी से ही क्लेश हो जाते हैं। वे क्लेश परवस्तु से नहीं होते हैं, किन्तु परवस्तु के सम्बन्ध में जो ममतापरिणाम किया गया है उसका क्लेश है। जो मेरा नहीं है उसे मेरा मानना इसी का नाम वास्तविक चोरी है। जो चोरी करता है वह कैसे निर्भय हो सकता है, वह कहां शांत हो सकता है यों ही अपने निजी आनन्दस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में यह मेरी है ऐसा परिणाम बनाया बस चोरी कर ली। ऐसी चोरी करने वाले पुरुष को कहां निर्भयता मिल सकती है, कहां शांति प्राप्त हो सकती है? शांति चाहते हो तो सर्वविकल्पों को तोड़कर एक शुद्ध निज ज्ञानस्वरूप का अनुभव करो और उसके उपाय में ज्ञानार्जन करो, सत्संगति करो, गुरूवों की उपासना करो और अपने जीवन का एक यह लक्ष्य बनावो कि मैं सदा ज्ञानवृत्ति से रहूंगा। इस उपाय से ही जीवन में शांति मिल सकती है। ऐसा विवेक जो कर सकते हैं वे संसार समुद्र से तिर जायेंगे, नहीं तो संसार का भटकना जैसे अनादि से चला आया है वैसा ही बना रहेगा।

अन्तस्तत्त्व में गुणस्थानों की भी अप्रतिष्ठा- परमार्थप्रतिक्रमण के इस महान् पुरूषार्थ के अवसर में यह अंतस्तत्त्व का रूचिया ज्ञानी संत अपने आपको सहजसिद्ध परम स्वच्छ निरख रहा है, यह मैं आत्मतत्त्व किसी भी गुणस्थानरूप नहीं हूं। गुणस्थान १४ होते हैं- मिथ्यात्व, सासादनसम्यक्त्व, मिश्रसम्यक्त्व, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्णकरण उपशमक व क्षपक, अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपक, सूक्ष्मसम्पराय उपशमक व क्षपक, उपशांत मोह क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इस प्रकरण में सबसे पहिले असमानजातीय द्रव्यपर्याय का प्रतिषेध किया गया था। इसके पश्चात् जो भाव अथवा प्रकट असमानजातीय द्रव्यपर्याय से तो सूक्ष्म है, किन्तु जीव और पुद्‌गल के परस्पर के विशेष सम्बन्ध के कारण है, ऐसे मार्गणास्थान का प्रतिषेध किया गया था। अब यह आत्मा की श्रद्धा और चारित्र के परिणमनरूप गुणस्थानों का प्रतिषेध किया जा रहा है।

जीवस्वरूप में मिथ्यात्व गुणस्थान का अभाव- पहिला गुणस्थान हैं मिथ्यात्व। मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृति के उदय के निमित्त से जो विपरीत आशयरूप परिणाम होते हैं उसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। यह भाव अत्यन्त विपरीत भाव है। इसे तो प्रकट ही सभी लोग कह सकते हैं कि यह जीव का स्वरूप नहीं है। इस जीव में मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं पाया जाता है। यद्यपि यह विपरीत आशय जीव के परिणमन रूप ही है किन्तु इस प्रकरण में सहज सिद्ध निरपेक्ष अपने ही स्वरूपास्तित्त्व के कारण जो इसका सनातन शाश्वतरूप है उसको दृष्टि में रखकर कहा जा रहा है।

जीवस्वरूप में सासादन गुणस्थान का अभाव- दूसरा गुणस्थान है सासादन। जिसमें सम्यक्त्व की आसादना हुई हो उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। यह भाव भी विपरीत आशय को लिए हुए है। इसमें सम्यक्त्व का लेश नहीं है, किन्तु ग्रहण किए गये सम्यक्त्व का वमन है इसमें। जैसे कोई पुरुष खाये हुए भोजन का वमन करता है तो वमन के समय कैसा स्वाद आता है वह विपरीत स्वाद है, भोजन का स्वाद नहीं है। ऐसे ही सम्यक्त्व का जहां वमन हुआ है ऐसी स्थिति का जो आशय है वह विपरीत आशय है। यह अनन्तानुबंधी कषाय के उदय के निमित्त से होता है और चूँकि पहिले के चार गुणस्थानों का मोह के निमित्त से नाम बताया गया है सो यहां दर्शन मोह का न उपशम है, न क्षय है, न क्षयोपशम है और न उदय है। इस कारण दर्शनमोह की अपेक्षा से पारिणामिक भाव भी इस गुणस्थान को बताया जाता है, किन्तु है यह गुणस्थान विपरीत आशय। यह गुणस्थान भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपमें मिश्र गुणस्थान का अभाव- तीसरा गुणस्थान है मिश्र गुणस्थान। जहां सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्मिश्रण है जिसे न केवल सम्यक्त्वरूप कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप कह सकते हैं, किन्तु जैसे मिले हुए दही गुड़ में न केवल दही रूप कह सकते हैं और न केवल गुड़ रूप कह सकते हैं, यों ही एक तृतीय प्रकार का परिणाम है उसे कहते हैं मिश्रसम्यक्त्व। मिश्रसम्यक्त्व का परिणाम ढुलमुल मिला परिणाम है और इसी कारण जीव के मरते समय याने भव छोड़ते समय मिश्रपरिणाम नहीं रह सकता। वहां तो किसी न किसी प्रकार का एक निश्चयपरिणाम होना चाहिए। ऐसा प्राकृतिक नियम है कि मरते समय यह ढुलमुल का मिश्रणरूप सम्यक्मिथ्यात्व परिणाम रह नहीं सकता। या तो मिथ्यात्वरूप हो जायेगा या सम्यक्त्व रूप परिणाम हो जायेगा। खैर यह भी परिणाम अशुभोपयोग में शामिल है, इसे जीव का स्वरूप नहीं कहा गया है।

जीवस्वरूप में अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान का अभाव- चौथा गुणस्थान है अविरतसम्यक्त्व। जहां व्रत न हो और सम्यक्त्व हो ऐसे गुणस्थान का नाम है अविरतसम्यक्त्व। यद्यपि इस गुणस्थान में जान बूझकर त्रस जीव की संकल्पकृत हिंसा नहीं होती है, फिर भी किसी अवसर पर किसी के समक्ष इसकी हिंसा के त्याग का नियम भी नहीं लिया है इसलिए यहां छहों प्रकार के कार्य अविरत बताये गये हैं। पशु तिर्यन्च भी हों और यदि वे सम्यग्दृष्टि हैं तो किसी जीव की वे हिंसा नहीं करते। जिसको अपने स्वरूप के समान समस्त जीवों का स्वरूप विज्ञात है उसके ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती कि वह अन्य जीव का संकल्प से घात करें यहां। अब श्रद्धा में शुद्धि हुई, श्रद्धागुण का शुद्ध विकास हुआ, इतने पर भी चूँकि अव्रत भाव है और यह परिणाम भी यहां नैमित्तिक है, अतएव इसे भी जीव का स्वरूप नहीं कहा गया है।

जीवस्वरूप में देशविरत गुणस्थान का अभाव- 5 वां गुणस्थान है देशविरत। जहां त्रस जीव की हिंसा का तो त्याग है, संकल्पी हिंसा का तो त्याग किया गया है और स्थावर जीव की हिंसा का त्याग नहीं हो सका ऐसा कुछ संयम और कुछ असंयम का जहां परिणाम है उसे देशविरत गुणस्थान कहते हैं। यहां पर भी तीनों सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व हो सकता

है। अब पंचगुणस्थान से जिसमें पंचम गुणस्थान भी आ गया है आगे के सब गुणस्थानों का चारित्रमोह के निमित्त से नामकरण किया गया है। सो देशविरत गुणस्थान की संज्ञा होने में चारित्रमोह की कौनसी अवस्था निमित्त है? इस गुणस्थान के बनने में निमित्त है अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाय का क्षयोपशम।

जीवस्वरूप में प्रमत्तविरत गुणस्थान का अभाव- छठे गुणस्थान का नाम है प्रमत्तविरत। जहां व्रत तो पूर्ण हो गया हो अर्थात् हिंसा छूट गयी हो, परिग्रह छूट गया हो, पांचों पापों का सर्वथा त्याग हो चुका हो, किन्तु प्रमाद है तो मोक्षमार्ग में जैसा निष्प्रमाद परिणाम होना चाहिए अर्थात् इस शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान में ही परिणाम निरत रहना चाहिये, किन्तु इस गुणस्थान में ऐसा न होकर शुभोपयोग में शिक्षा देना, दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, निर्देश देना, ये भी बातें हुआ करती हैं और स्वयं का चलना, चर्या करना, आहार लेना आदिक बातें हुआ करती हैं, इस कारण इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं। यह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थान के भेद व लक्षण- 7 वां गुणस्थान है अप्रमत्तविरत। जहां व्रत तो पूर्ण हो गया है, किन्तु प्रमाद नहीं रहा अर्थात् शुद्ध ध्यान है, जहां किसी प्रकार का आर्तध्यान भी नहीं है, व्यवहार की कोई प्रवृत्ति ही नहीं रही है- ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान में निरत महाव्रती साधुवों को अप्रमत्तविरत कहते हैं। इस अप्रमत्तविरत गुणस्थान में दो प्रकार की तैयारी हैं- एक साधारण तैयारी और एक प्रगतिशील तैयारी। प्रगतिशील तैयारी में अधःकरण परिणाम होता है। अर्थात् आगे श्रेणियों में बढ़ने के लिए विशिष्ट परिणाम होता है उसे कहते हैं सातिशय अप्रमत्तविरत और जो साधारणतया सप्तम गुणस्थान में है उसे कहते हैं स्वस्थान अप्रमत्तविरत।

सातिशय अप्रमत्तविरत में पहिले भी करणत्रय की संभवता- श्रेणी में चढ़ने के लिए जो अधःकरण परिणाम होता है उससे पहिले इस गुणस्थान में यदि क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है तो वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने का उद्यम करता है तथा कोई क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने का उद्योग करता है। वहां वैसे भी अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। इस परिणाम का नाम लेने में 8 वां, 9 वां गुणस्थान न समझना, किन्तु आत्म का जो स्वरूप बताया है जिसे नक्शे द्वारा आप जानते हैं वह उस परिणाम का स्वरूप है। यह स्वरूप जिन परिणामों में पाया जाय वह अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण कहलाता है।

करणत्रय होने के अनेक अवसरों के कुछ उदाहरण- जब जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो मिथ्यात्व गुणस्थान में ही अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होते हैं। जब यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो उसके अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। जब जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो उस समय में दो बार में तीन-तीन करण किए जाते हैं। अनन्तानुबंधी के विसंयोजनरूप क्षय में और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के क्षय में प्रथम तो अनन्तानुबंधी के क्षय के समय में भी ये तीन परिणाम होते हैं और इसके बाद विश्राम लेकर फिर तीन परिणाम होते हैं जिनसे दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का क्षय होता है। यह जीव जब देश संयम भाव को उत्पन्न करता है अर्थात् पंचम गुणस्थान का भाव उत्पन्न करता है उस समय भी इसके अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। जब महाव्रत उत्पन्न करता है उस समय भी अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। इस प्रकार कई अवसरों में ये करण होते हैं।

अब यह क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अप्रमत्तविरत गुणस्थान वाला यदि उपशम श्रेणी में चढ़ने को है तो उसके अधःकरण परिणाम से पहिले और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहिले तीन परिणाम होते हैं, जिससे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ, पश्चात् अधःकरण उपशम श्रेणी में चढ़ने के लिए हुआ और फिर अष्टम गुणस्थान में पहुंच गया। अपूर्वकरण परिणाम होने पर यदि क्षायिक सम्यक्त्व है, पहिले से तो ये डबल काम सप्तम गुणस्थान में नहीं करने पड़ते। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भी उपशम श्रेणी में चढ़ सकता है तब उसकी स्थिति यह रहती है कि सम्यक्त्व तो क्षायिक है, किन्तु चारित्र उसका उपशमक चल रहा है। और वह चारित्र से तो गिर जायेगा, पर सम्यक्त्व से न गिर सकेगा। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि सातिशय अप्रमत्तविरत उपशम श्रेणी पर चढ़ने के लिए उपशम परिणाम करता है, इसके बाद जब अपूर्वकरण

परिणाम होता है तो वहां ८ वां गुणस्थान हो जाता है। यदि क्षपकश्रेणी पर चढ़ने के लिये क्षपण परिणाम करता है तो क्षपक श्रेणी के आठवें गुणस्थान में चढ़ता है। अब इन श्रेणियों में आगे बढ़ते जाइए।

जीवस्वरूप में अपूर्व गुणस्थान का अभाव- इस अपूर्वकरण गुणस्थान में कर्मों की निर्जरा नहीं होने पा रही है, किन्तु ६ बातें यहां होने लगती हैं प्रतिसमय अनन्तगुणे विशुद्ध परिणामों का होना, पहिले से बांधे हुए कर्मों की स्थिति जो अधिक पड़ी हुई है उसका घात होने लगना, नवीन कर्म जो बँध रहे हैं उनमें कम स्थिति का पड़ना, बद्ध कर्म में जो फल देने का अनुभाग पड़ा हुआ है वह अनुभाग भी कम हो जाना, कर्मप्रदेशों की निर्जरा होने लगना, और छठवां काम है जो अशुभ प्रकृतियां हैं वे प्रकृतियां शुभ में बदल जायें। इतना महान् कार्य इस अपूर्वकरण परिणाम में होने लगता है। अन्यथा भी जब-जब इसके अपूर्वकरण परिणाम हो तब-तब भी ये ६ कार्य होते हैं। मिथ्यात्वगुणस्थान में भी जब अपूर्वकरण परिणाम हुआ था तब भी ये ६ काम हुए थे, तथा और-और समयों में भी। यह अपूर्वकरण का स्वरूप है।

जीवस्वरूप में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अभाव- यह जीव जब अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में पहुंचता है तब उपशम श्रेणी में तो चारित्र मोह की २० प्रकृतियों का क्रमबद्ध उपशम होता है और क्षपकश्रेणी में चारित्र मोहनीय की २० तथा अन्य कर्मों की १६, इस प्रकार ३६ प्रकृतियों का क्षय होता है। वे २० प्रकृतियां चारित्रमोहनीय की हैं और ये हैं- अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। तथा अन्य कर्मों की 16 प्रकृतियां ये हैं- नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यन्चगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आताप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर।

जीवस्वरूप में सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का अभाव- इसके पश्चात् यह जीव दशमगुणस्थान में पहुंच जाता है। केवल सूक्ष्म लोभ ही शेष रहा। उस सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट करने के लिए अंत:संयम प्रकट होता है जिसका नाम सूक्ष्मसाम्पराय है। इस चारित्र के बल से सूक्ष्म लोभ की वर्गणावों के पहिले छोटे-छोटे अंश करके, भाग करके जिन्हें कृष्टियां बोलते हैं उन कृष्टियों के द्वारा इस संज्वलन सूक्ष्मलोभ की स्थिति का और अनुभाग का खण्डन किया जाता है। आप समझो जब इसका वर्णन करणानुयोग में पढ़ें तो ऐसा लगेगा कि बहुत विकट शत्रु है यह कषाय। बहुत कठिनाई से धीरे-धीरे खण्डन कर बहुत तरह से इसको नष्ट किया जाना पड़ता है। वहां सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। ये सब भी जीव के स्वरूप नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्व में उपशान्तमोह व क्षीणमोह गुणस्थान का अभाव- अब यह जीव उपशम श्रेणी में चढ़ता हुआ उपशांत मोह में पहुंचता है और क्षपक श्रेणी में चढ़ता हुआ क्षीण मोह में पहुंचता है। कहीं १० वें गुणस्थान से लांघकर १२ वें गुणस्थान में नहीं जाना पड़ता है। यह संख्या के हिसाब से बात कह दी जाती है कि १० वें गुणस्थान वाला जीव ११ वें को लांघकर १२ में पहुंचता है। वहां लांघने का सवाल ही नहीं है। उपशम श्रेणी में सूक्ष्मसाम्पराय के बाद है उपशांत मोह और क्षपकश्रेणी में सूक्ष्मसाम्पराय के बाद है १२ वां गुणस्थान, क्षीणमोह। उपशांत मोह में यथाख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है, यथा के मायने है जैसा, अब मन में कह लो आत्मा का स्वरूप है तैसा, ख्यात मायने प्रकट हो जाना, इसका नाम है यथाख्यात चारित्र। जैसा आत्मा का सहजस्वरूप है उस रूप में प्रकट हो जाना सो यथाख्यात चारित्र है, निष्कषाय परिणाम है। मोहनीय कर्मों के उपशम में याने उदय व उदीरणा के अभाव में विशुद्ध परिणाम जगा है सो वह उपशांत है। जो उपशम का काल है वह काल समाप्त हो जावे पर वे सब प्रकृतियां उदय में क्रमश: आती हैं तब यह यथाख्यातचारित्र छूट जाता है, किन्तु क्षीणमोह में यथाख्यातचारित्र के विरोधक कषायभाव का क्षय हो चुका है, इस कारण यथाख्यात चारित्र नहीं छूटता है। न छूटे। बहुत विशुद्ध आत्मा है, वीतराग है। वीतरागाय नम: आप कहेंगे तो इसमें ११ वां गुणस्थान भी आता है और १२ वां गुणस्थान भी आ जाता है। ये वीतराग प्रभु हैं फिर भी ऐसे स्थान हो जाना यह भी जीव का सहजस्वरूप नहीं है। जीव का सहजस्वरूप तो चैतन्यभाव है। इस कारण यह भी जीव का स्वभाव नहीं है।

चित्स्वभाव में सयोगकेवली व अयोगकेवली गुणस्थान का अभाव- यों ही १३ वां गुणस्थान जहां पर अनन्त चतुष्ट उत्पन्न हुए हैं, जो प्रभु कहलाते हैं, जिनकी पूजा में भव्यजन निरत रहा करते है, ऐसे आत्मविकास का भी पद प्राप्त कर ले, फिर भी जीव का सहजस्वरूप न होने के कारण अर्थात् सहजशक्ति रूप भाव नहीं है, वह एक विकास है। साथ ही योग का अभी सम्बन्ध है इस कारण यह तेरहवां गुणस्थान भी मैं नहीं हूं। अभी तो पर्याय मैं भी नहीं हूं, पर होऊँगा, ऐसी स्वीकारता

करके यह ज्ञानी कह रहा है कि यह गुणस्थान भी मैं नहीं हूं। ऐसे ही योग का अभाव हो जाने पर अर्थात् निर्वाण की पूर्ण तैयारी के सहित रूप यह अयोगकेवली गुणस्थान भी मैं नहीं हूं।

अन्तस्तत्त्व में गुणस्थान के प्रतिषेध का उपसंहार- इस तरह यह परमार्थप्रतिक्रमण उद्यमी संत अपने आपके सम्बन्ध में ऐसा स्वच्छ ज्ञानप्रकाश पा रहा है जहां यह कहा जा सकता है कि यह संत यह आत्मतत्त्व गुणस्थानरूप भी नहीं है, इस प्रकार यहां तक निरपेक्ष और सापेक्ष श्रद्धा और चारित्रगुण के विकासरूप स्थान का भी इस अन्तस्तत्त्व में अभाव बताया गया है।

आत्मतत्त्व में जीवस्थानों का अभाव- जीवस्थान १४ प्रकार के बताये गए हैं- बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादरएकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्मएकेन्द्रिय पर्याप्त, सूक्ष्मएकेन्द्रिय अपर्याप्त, द्वीन्द्रियपर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, चतुरिन्द्रियपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, असंज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त, असंज्ञीपंचेन्द्रिय अपर्याप्त, संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त, संज्ञीपंचेन्द्रिय अपर्याप्त। इनका दूसरा नाम जीव समास भी है। इस जीवस्थान में व्यन्जनपर्याय की मुख्यता है। क्या जीव का बादर होना या बादर शरीर बनना जीव का स्वभाव है अथवा एकेन्द्रिय आदिक होना जीव का स्वभाव है या पर्याप्त अपर्याप्त बनना जीव का स्वभाव है? ये कोई भी जीव के स्वभाव नहीं हैं। जीव तो इन जड़ प्रपंचों से परे अंतरंग में नित्यप्रकाशमान् अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप है, इस मुझ चैतन्यस्वरूप के ये कोई भी जीवस्थान नहीं हैं। इस प्रकार परमार्थप्रतिक्रमण के प्रसंग में निज परमार्थस्वरूप की स्वच्छता निरखने वाले ज्ञानीपुरुष अपने आपको केवल निज स्वरूपास्तित्त्वमात्र निरख रहे हैं।

पर्याय स्थानों का अकर्तृत्व- मैं न गुणस्थानरूप हूं, न मार्गणास्थानरूप हूं और न जीवस्थानरूप हूं, यह तो हुआ अहंबुद्धि का निषेध। अब इसके बाद यह बतला रहे हैं कि मैं इन रूपों तो हूं ही नहीं, साथ ही मैं इन सबका करने वाला भी नहीं हूं। मैं चित्स्वरूप हूं, जो अगुरूलघुत्व गुण के कारण अर्थपरिणमन होता है उस अर्थपरिणमन का भी मैं कर्ता क्या, वह तो हूं ही नहीं। वस्तु का स्वरूप है, उसमें द्रव्यत्व गुण के कारण वस्तु के स्वभाव के अनुरूप विशुद्धपरिणमन चलता ही रहेगा, मैं इन पर्यायों का कर्ता नहीं हूं। उक्त पर्यायों में शुद्धपर्यायों को भी बताया गया है। उन शुद्धपर्यायों का भी मैं कर्ता नहीं हूं। करना क्या, पदार्थ हैं और उनके स्वरूप से उनका परिणमन हो रहा है। कर देना तो वान्छापूर्वक करने को कहते हैं। करने के प्रसंग में वस्तुत: कोई जीव अन्य पदार्थों का कर्ता नहीं है, किन्तु वान्छा में करने का विकल्प आया, इस कारण कर्ता कहा जाता है। मैं इन किन्हीं भी परिणमनों का कर्ता नहीं हूं।

पर्यायस्थानों का अकारयितृत्व- इन परिणमनों का कर्ता तो हूं नहीं। साथ ही इन परिणमनों का कराने वाला भी नहीं हूं। कराने वाला मैं तब कहलाऊँ जब इन पदार्थों के परिणमन का फल मुझे प्राप्त हो। लोक में जितने भी पदार्थ हैं और उनका जो कुछ भी परिणमन होता है उन सब परिणमनों का फल वह परिणमयिता ही प्राप्त किया करता है, दूसरा नहीं। वास्तव में फल वह है जो वस्तु में उस परिणमन के कारण उसी समय मिले। परिणमन का परमार्थ फल यह है कि वस्तु की सत्ता बनी रहे। चैतन्यतत्त्व में इस बात को निरखो कि चेतन के परिणमन का भी परमार्थत: फल यह है कि उसका सत्त्व बना रहे। और इससे आगे चलकर देखा तो चूँकि यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, अत: आनन्द से भी इसके प्रयोजन का सम्बन्ध है। इसके परिणमन का फल आनन्दगुण का किसी न किसी प्रकार का विकास होना है सो वह फल भी मेरे परिणमन का मुझमें है।

जीवस्थानादिकों के अकारयितृत्व का कारण- जीव जो कुछ भी करता है उसका फल यह तुरन्त पा लेता है। ऐसा नहीं है कि आज काम करें और फल वर्षों बाद मिले अथवा कुछ मिनट या सेकेण्ड बाद मिले। जिस समय यह परिणाम करता है उसी समय इसे फल मिल जाता है। औपचारिक फल की बात अलग है जिस मनुष्य ने तपस्या की उस तपस्या में शुभ परिणाम हुए, देवगति का बंध हुआ तो अब देवगति का फल उसे वर्षों बाद मिलेगा। जब मरेगा, देव बनेगा तब वर्षों पहिले की तपस्या का फल मिलेगा। यह औपचारिक कथन है और निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक जो बात बन गयी उसका कथन है। वस्तुत: तपस्या करते समय इस जीव ने अपना जो भाव बनाया उस भाव के फल में शांत होना चाहे या अशांत होना चाहे तो जो कुछ भी उस समय हो रहा है वही फल उसे मिल रहा है। कोई पुरुष शुभोपयोग का परिणाम करे तो उस शुभोपयोग के परिणाम में जो उसने चैन माना है, जो उस समय उसके आनन्दगुण का परिणमन हो रहा है वही उसका फल है। इसने अपने परिणाम का फल तुरन्त पा लिया।

कारकों से प्रयोजन की अभिन्नता- तभी तो देखो बताया गया है कि हिंसा का परिणाम करने वाले पुरुष ने हिंसा का परिणाम तुरन्त पाया। उस समय जो विकार हुआ, जो आकुलता हुई वही उसका फल है। तो तुरन्त भोग लिया एक बात, दूसरे औपचारिक और निमित्तनैमित्तिक बात भी देखो तो यहां तक हो जाता है कि हिंसा का परिणाम करने वाला पुरुष हिंसा का फल पहिले भोग लेता है और चाहे हिंसा पीछे कर सकेगा। मानो जैसे किसी पुरुष के मन में अपने माने हुए शत्रु की जान लेने का भाव है कि मैं उस शत्रु की जान खत्म कर दूं ऐसे परिणाम का बंध तो तुरन्त हो गया और ऐसी स्थिति का बंध हो गया कि दो चार दिन बाद ही कहो उसका फल मिल जाय। चाहे वह मार सके 10 वर्ष बाद, पर हिंसा का परिणाम करने से फल उसी समय मिल गया। तो फल पहिले भोग लिया और घात बाद में किया जा सका। वस्तुत: तो ऐसा नहीं है कि भाव पीछे हो, फल पहिले मिले। जिस काल में भाव है उसी काल में फल मिल जाता है।

परोपकार की चेष्टा में भी सचेष्ट की फलयुक्तता- हम परोपकार का भाव करें तो इस भाव के करते ही यों जानना चाहिए कि उसी काल में हमें फल मिल जाता है। पर के उपकार के समय में जो विचार उठा, शुभभाव हुआ उस शुभभाव के फल में जो आनन्द का परिणमन हुआ वह तो उसी समय पा लिया ना। शुद्ध विचार का जो आनन्द है वह आनन्द विषयभोगों में भी नहीं है। पंचेन्द्रिय के भोग भोगने में भी वह आनन्द नहीं है जो आनन्द एक शुद्ध ज्ञान बनाये रहने में है। तो जब जो पदार्थ जैसा परिणमन करते हैं उस परिणमन का फल वह दूसरा पदार्थ तुरन्त ही पा लेता है। जब अन्य पदार्थों के परिणमन का प्रयोजन मुझे नहीं मिलता है तो मैं कैसे कह सकूँ कि मैं परपदार्थों का कराने वाला हूं। न तो मैं परपदार्थ के परिणमन का करने वाला हूं? और न परपदार्थों के परिणमन का कराने वाला हूं।

परतत्त्वों के अनुमोदकत्व का अभाव- इसी प्रकार उन पदार्थों को, उन पर्यायों को जो भी कर रहा हो, वे पदार्थ स्वयं ही जिनका कि परिणमन हो रहा है उन परिणमनों को करते हुए उन पदार्थों का अनुमोदन करने वाला भी मैं नहीं हूं। एकत्व भावना का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह जीव अपने एकत्वस्वरूप की दृष्टि छोड़कर परपदार्थविषयक नाना कल्पनाएँ बनाकर मुफ्त ही दु:खी हो रहा है। अरे परजीवों का उपकार तो अपनी शांति के लिए किया जाता है। कहीं हठ करके अथवा किसी पर के काम के लिए कमर कसकर उपकार करने की वृत्ति वस्तुत: नहीं हो सकती है। यदि करे कोई ऐसा तो उसका अर्थ समझना चाहिए कि अपने कषाय की पुष्टि करने के लिए पर का उपकार कर रहे हैं यहां।

परोपकार के प्रयोजन- पर के उपकार करने के दो ही तो प्रयोजन हैं- अपने कषायों की पुष्टि करना अथवा अपने आपमें शांति प्राप्त करना। परोपकार में शांति का ध्येय तो इस तरह पूर्ण होता है जीव को पूर्ण वासनावों के कारण इतनी कायरता और अशक्ति है कि इन विषय कषाय भोगों की बात जल्दी घर करती है और जो हित की बात है ज्ञान वैराग्य का मर्म है वह इसके उपयोग में प्रवेश नहीं कर पाता है। ऐसी स्थिति में रहने वाले इन पुरूषों को यह चाहिए कि परजीवों के उपकार में अपना उपयोग लगाये तो थोड़ा विषय कषायों में, भोगों के प्रसंग में उपयोग गंदा तो न रहेगा। यह उसकी स्वरक्षा है और यह शांति का पात्र बना रहता है, इसके लिए विवेकी पुरुष पर के उपकार में प्रवृत्त होता है।

अज्ञानियों के परोपकार का प्रयोजन- अज्ञानी जन कषायों के पोषण के लिए पर के उपकार में प्रवृत्त होते हैं। जिनका कषायों के पोषण का उद्देश्य है उनके पर से निरपेक्ष, स्वार्थशून्य उपकार बन नहीं सकता। जिस ध्येय से पर का उपकार करने के लिए श्रम करता है, उसमें फर्क आ गया, तो उसे यों ही बीच में छोड़ दिया जायेगा, पर-उपकार नहीं कर सकता। लोक में अपनी विशेष मान्यता प्रकट करने का परिणाम हो अथवा लोक में मेरा नाम रहे, ऐसा परिणाम हो तो उसका अपराध है। मैं उस पुरुष को किसी दूसरे के साथ ऐसा भिड़ा दूं कि उसकी बरबादी हो जाय, इस ध्येय से कोई किसी की प्रशंसा करे, मदद करे, सलाहगीर बने तो यह तो अपने कषायों के पोषने का काम है, यह परोपकार में शामिल नहीं है।

विविक्तता का पुनर्दर्शन- मैं पर का न कुछ कर सकता हूं, न करा सकता हूं और न करते हुए को अनुमोद सकता हूं। यह बात कही जा रही है अपने आपके सहजस्वरूप का अवलोकन करते हुए की स्थिति की बात यह मैं आत्मा केवल ज्ञानानन्दपुन्ज हूं, आकाश की तरह निर्लेप अमूर्त स्वच्छ निजस्वरूप मात्र सच्चिदानन्दमय हूं, इसके अलावा जो कुछ भी अलाबला लगी हैं वे सब परनिमित्त के योग में अपने आपकी आसक्ति से लगी हैं, वे सब मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं पर को न कुछ करता हूं, न कराता हूं, और न अनुमोदता हूं।

अन्य के समर्थन के ब्याज से अपना समर्थन- किसी भी समय जब मैं किसी अन्य जीव को शाबासी दे रहा हूं तो उस समय भी मैं उसे शाबासी नहीं दे रहा हूं, किन्तु जो काम मेरे सत्त्व में है या जो मेरी इच्छा है उसको पुष्ट करने वाले साधन में जो निमित्त होता है उसे शाबासी देने के बहाने अपने आपके भाव को ही शाबासी दे रहा हूं। जैसे राजा या सेनापति की जय बोलते हुए में वे सिपाही अपने आपकी ही जय की भावना पुष्ट कर रहे हैं, अथवा पूजा करते हुए भगवान की जय बोलते हुए भक्त जन अपने ही जय की भावना और यत्न कर रहे हैं, ऐसे ही प्रत्येक कार्य में जहां कि हम दूसरों की अनुमोदना करते हैं, समर्थन करते हैं, शाबासी देते हैं, उन कार्यों में, उन अवसरों में, हम अपने आपकी अभिलाषा का समर्थन किया करते हैं। किसी दूसरे जीव को मैं अनुमोद नहीं सकता हूं, यों समस्त परपदार्थों से मैं न्यारा हूं, उनका कर्ता हूं, उनका अकारक हूं और उनका अनुमोदक हूं, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व इन समस्त परद्रव्यों से अलाबला से परे हूं, ऐसा अपने आपको एक स्वरूप निरखने वाले ज्ञानी के परमार्थप्रतिक्रमण हुआ करता है।

संकटहारी एकत्वदर्शन- भैया ! शांति का एक ही प्रमुख उपाय है जब कभी भी कोई संकट आये, विपदा आये फँसाव हो, उल्झन हो तो अपने एकत्व स्वरूप पर दृष्टि डालो, सारी उलझनें समाप्त हो जायेगी। उलझनें तो उद्दण्डता है, कोई अनाधिकार काम करे दूसरों के बीच में बढ़-बढ़ करे तीन में न तेरह में मिरदंग बजाये डेरा में, ऐसा अपना हाल चाल बनाए तो उसको दु:खी होना ही पड़ेगा। देखो तो मोह की लीला- यह व्यामोही व्यर्थ ही बीच में आ धमका। मान न मान मैं तेरा महिमान। कोई परपदार्थ उसे स्वीकारते नहीं हैं, वे अपने स्वरूप में ही बने हुए हैं, पर मैं जबरदस्ती उन पदार्थों के निकट पहुंचकर कहता हूं कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूं। अरे दूसरे पदार्थ तो ऐसा अंगीकार करते ही नहीं हैं किन्तु हठ बना रहा हूं कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूं।

एकत्वस्वरूप की संभाल- भैया ! बड़े प्रेम से, धर्मानुराग से यह समझावो कि देखो न कुछ तुम हमारे हो और न हम कुछ तुम्हारे हैं। अगर यह रहस्य की बात प्रेममय वातावरण की दृष्टि से परोपकारी बनकर कहा जाय तो वे लोग मानेंगे नहीं तो लड़ाई होगी। कोई ऐसा कह तो दे घर में, न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं, तो कलह मच जायेगा। अरे इतनी ऊँची बात जो उसका भी उद्धार कर दे अपना भी उद्धार कर दे ऐसा गूढ़ मंत्र देने का भी अधिकारी वह है जो स्वपर-हित की भावना से ओतप्रोत हो अन्यथा विसम्वाद बढ़ जायेगा, अनबन हो जायेगी। सबसे बड़े विषाद की बात तो यह है कि हम अपने शुद्ध एकत्वस्वरूप की संभाल नहीं करते हैं, बाह्यपदार्थों में आकर्षित होते चले जा रहे हैं।

उपयोग से संकट का आय और व्यय- भैया ! क्या है संकट, कितने हैं संकट? जोड़ लो। अमुक आदमी मुझसे इतना, वैभव छीनना चाहते हैं, धन मकान का हिस्सा बांट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नहीं मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकसान हो गया है, लोग रूठते चले जा रहे हैं। बनाते जावो- कितने संकट हैं, पहिले तो सारे संकटों को जोड़ जोड़कर एक जगह धर लो और फिर धीरे से अपने एकत्वस्वरूप की दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह सारा ईंधन एक साथ सब स्वाहा हो जायेगा। कहां रहे संकट? जब शरीर ही मैं नहीं हूं, ये रागद्वेष विकार भाव भी मैं नहीं हूं, ये पोजीशन ये भीतर की कल्पनाएँ ये सब भी मैं नहीं हूं तो मेरा बिगाड़ कहां है, क्या है मेरा बिगाड़? ज्ञानीपुरुष में ही ऐसा साहस होता है कि कदाचित् कोई दुष्ट बैरभाववश नाना प्रकार से उसके प्राण हरे तो भी यह स्पष्ट झलकता है कि मेरा तो कुछ भी बिगाड़ नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्दमात्र हूं। लो यह मैं पूरा का पूरा यहां से चला, उसे कोई प्रकार का संकट नहीं होता है। संकट तो मोह ममता में बसे हुए हैं। हम संकटों से दूर होने के लिए विरूद्ध प्रयत्न किया करते हैं। वह क्या मोह ममता की रचना और बनाया करते हैं। दु:ख साधन बनाने से कहीं दु:ख टाले भी जा सकेंगे क्या? सोच लो।

नि:संकट एकत्वदर्शन- उन सब संकटों से तारने वाला यह एक परम चिंतन है कि मैं न किसी अन्य पदार्थरूप हूं, न किसी पदार्थ का कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न अनुमोदने वाला हूं। मैं तो सबसे निराला सच्चिदानन्दस्वरूप मात्र अपने स्वरूप रूप हूं, ऐसी जहां एकत्वस्वरूप की भावना जगती है वहां कोई संकट नहीं ठहर सकता। ऐसी संकटहारी भावना के बल से यह ज्ञानी संत अपने उपयोग को स्वच्छ बना रहा है, परमार्थप्रतिक्रमण कर रहा है। परमार्थस्वरूप के प्रति जो उपयोग लेप लग रहा है, उन लगे हुए दोषों को दूर कर देना, हटा देना, क्रांत कर देना, अतिक्रांत कर देना यह है उसका परमार्थप्रतिक्रमण।

परमार्थप्रतिक्रमण के बिना इस जीव की धर्म में प्रगति नहीं हो सकती है। इस कारण जो दोष अपने लगे हैं पूर्वकाल में उन दोषों से भी विविक्त केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आपको निरखना चाहिए।

गाथा ७९

णाहं वालो बुड्ढो ण चेव तरूणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७९।।

आत्मा में देह का व देह की अवस्थावों का अभाव- मैं बालक नहीं हूं, तरूण नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं और न बालक, वृद्ध, तरूण होने का कारण हूं, न उनका कर्ता हूं न कराने वाला हूं और उनके करने वालों का अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूं। मनुष्यों की दृष्टि, सर्वाधिक प्राय: अपने शरीर पर रहती है और विशेषतया अपने को ऐसा मोह में अनुभव किया करते हैं कि मैं बालक हूं, वृद्ध हूं और तरूण हूं। इसी कारण शरीर से सम्बन्धित अन्य मिथ्या आशयों की बातें भी करते हैं, जैसे कि कोई प्रतीति रखता है कि मैं दुबला हूं, मोटा हूं, गोरा हूं, सांवला हूं, ठिगना हूं, लम्बा हूं आदिक प्रतीति रक्खा करते हैं, किन्तु शरीर और यह आत्मा अत्यन्त भिन्न पदार्थ है और इनमें विलक्षणता के कारण बहुत बड़ा अन्तर है।

आत्मा और देह में वैलक्षण्य- यह आत्मा तो पवित्र ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसके इस सारस्वरूप का क्या वर्णन किया जाय? सर्वद्रव्यों में सार आत्मा को बताया है। आकाश भी अमूर्त है, पर आकाश न कुछ जानता है, न कुछ आनन्द का अनुभव करता है, वह अचेतन है। यह आत्मा आकाश की तरह अमूर्त निर्लेप होकर भी जानने और आनन्दमय होने का स्वभाव रखता है। संभावना करो मानों, इस लोक में सर्व पदार्थ होते, एक आत्मद्रव्य भर न होता तो सबका होना न होता क्या? सर्वद्रव्यों में सारभूत श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा है। यह ज्ञानानन्दस्वभाव के कारण पवित्र है, जबकि यह शरीर नाना अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, शीर्ण होता है, खण्ड-खण्ड हो जाता है। कितनी ही बातें हैं जो सब जानते हैं। इस आत्मा में और शरीर में महान् अन्तर है। तब फिर अपने को शरीर रूप अनुभवना शरीर की दशावोंरूप अनुभवना यह विकट व्यामोह है। परमार्थत: मैं बालक नहीं हूं, जवान नहीं हूं और वृद्ध नहीं हूं।

देहों के रूपक- जीवन के आदि के कुछ समय को मान लो, जैसे जीवन के शुरू का 5 वां हिस्सा तक बालकपन जैसा रहता है, वह एक शरीर की चढ़ती का दिन है। बालक प्राय: लोगों को सुन्दर जंचा करते हैं। मनुष्य का बालक हो वही नहीं, किन्तु पशु पक्षी और पेड़ों का बालक भी सुन्दर लगता है। पेड़ों में अभी नीम के पेड़ को छोटी अवस्था में देखो कितने सुन्दर आकार का रहता है? ऐसा लगता है जैसे मानों सजीधजी छतरी रखी हो और जब बड़ा हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है तो उसकी शकल देखो तो उतनी अच्छी नहीं रहती है। चढ़ती हुई स्थिति बाल्यपन कहलाती है और चढ़ी हुई स्थिति जवानी कहलाती है और ढली हुई स्थिति बुढ़ापा कहलाती है। आत्मा में यह चढ़ाव उतार नहीं है। ये आहार वर्गणा के स्कंध शरीररूप परिणत हुए हैं। जैसे आयु गुजरती है वैसे ही यह शीर्ण हो जाता है। इसी कारण इसका नाम शरीर है। जो शीर्ण होने के लिए है उसको शरीर कहते हैं। मैं इन देहोंरूप नहीं हूं।

जीव में वय:कृत विकारों का अभाव- शरीर की ये अवस्थायें तीन प्रकार की हैं। ये मनुष्यों और तिर्यन्चों के हुआ करती हैं। देव और नारकियों के बुढ़ापा क्या? यद्यपि वैसे अन्तर्मुहूर्त के अन्दर बालपन देवों के भी रहता है। समझो कुछ मिनटों का समय हो जाता है- ज्यादा से ज्यादा ४८ मिनट मुहूर्त के माने गए हैं। बाद में सारी जिन्दगी भर वे जवान रहते हैं। नारकियों की तो बात ही क्या करें- उनकी काहे की जवानी, काहे का बुढ़ापा और काहे का बालपन? उनके शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं, फिर वे ही मिल जाते हैं। यह अवस्थाभूत वय:कृतविकार मनुष्य और तिर्यंच की पर्याय में उनके शरीर में होता है। उस अवस्थाकृत विकार में उत्पन्न हुई जो बालपन, जवानी और वृद्धावस्था है, और भी अनेक-अनेक प्रकार के भेद लगा लीजिए- मोटे होना, दुबलापना, कोई रंगपना आदि हैं, इस मुझ चित्स्वभाव में नहीं है।

देहविकार के सम्बन्ध में व्यवहार और निश्चयनय का आशय- यद्यपि व्यवहारदृष्टि से यों ही निरखते हैं तो ये इस जीव के ही तो है सब; कहीं काठ मिट्टी के तो नहीं हैं या मुर्दा हो जाने पर फिर इस शरीर की यह अवस्था तो नहीं होती है। वह व्यवहारनय का अभिप्राय है। जो किसी सम्बन्ध कारण किसी का किसी में उपचार करना, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से जब अपने

आपको देखते हैं कि वास्तव में मैं क्या हूं? पर का निमित्त पाए बिना, पर का आधार लिए बिना, पर के सम्बन्ध बिना अपने आपका मुझमें जो कुछ है उसे देखना, इसे कहते हैं वास्तविक स्वरूप और शुद्ध निश्चयनय का आशय। उस शुद्ध निश्चयनय के अभिप्राय से मेरे में ये कोई अवस्थायें नहीं हैं।

जीवस्वरूप में देहकारणता का अभाव- भैया ! मेरे में ये अवस्थाएँ नहीं हैं और मैं इनका कारण भी नहीं हूं। शुद्ध निश्चयनय से देखा जा रहा है। वैसे व्यवहार से यों कह सकते हैं कि जीव का सम्बन्ध न हो तो बालकपन, जवानी, बुढ़ापा बने कैसे? इसलिए व्यवहारनय की दृष्टि में भले ही यह कारण माना जाए जीव, किन्तु शुद्ध निश्चयनय के अभिप्राय से जिसका जो परिणमन है, उसका वही पदार्थ कारण होता है, अन्य पदार्थ करता नहीं है। यह शरीर में बालपन, जवानी और बुढ़ापे का जो उदय चलता है, यह शरीर में ही रहने वाले स्कंधों के ही कारण चलता है। जैसे यह शरीर जीर्णशीर्ण हो जाता है- ऐसे ही यह किवाड़ आदिक भी देखो १०० वर्ष में ही घुन जाते हैं, बरबाद हो जाते हैं। यहां कुछ इतनी विशेषता जरूर है कि शरीर के पुद्गल के कारण तो म्याद है ही, पर जीव का भी सम्बन्ध है और जीव के साथ आयुकर्म लगा है। यह जीव इस शरीर में कितने समय तक रहेगा, यह आयुकर्म के निमित्त से निर्णय किया गया है। तब वह उस आयु के मुताबिक शरीर की सीमा बन गयी कि अब इतने समय तक इसकी चढ़ती हुई स्थिति रहेगी, इसके बाद इसकी ढलती हुई स्थिति रहेगी। कुछ भी हो, देह व देह की अवस्थारूप मैं नहीं हूं।

विवेकी जीव में शोक का अनवकाश- इस शरीर की स्थिति देखकर किसी प्रकार की चिंता और शोक करना मूढ़ता है। मैं शरीररूप नहीं हूं, तब यह शरीर रहे अथवा चला जाय, कैसी भी स्थिति प्राप्त हो, इस शरीर की स्थिति से मेरे आत्मा में हानि नहीं होती है। आत्मा है ज्ञान और आनन्दस्वरूप। शांति, संतोष, आनन्द मेरे ज्ञानबल पर निर्भर हैं, शरीर की स्थिति पर निर्भर नहीं है। हां, थोड़ा निमित्त आलम्बन है, शरीर दुर्बल हो या वृद्ध हो तो यह आत्मा उस समय अज्ञानवश अपनी ओर से और कल्पनाएँ बनाकर अपने दुःख बढ़ा लेता है। यदि शरीर की इस स्थिति के कारण क्लेश हुआ करता होता तो सभी बुढ़ों के एकसा क्लेश होना चाहिए। कोई ज्ञानी संत है, उसका शरीर अतिवृद्ध भी हो जाए तो भी ज्ञानबल बना है, इस कारण वह अपने मन में प्रसन्न रहा करता है।

जीव में शरीर के कर्तव्य का अभाव- यह शरीर मैं नहीं हूं और इस शरीर का कारण भी मैं नहीं हूं। यहां तक दो बातें कही गयी हैं। तीसरी बात यह समझो कि मैं इन शरीरों का कर्ता भी नहीं हूं। क्या मैंने अपना शरीर बनाया, कब बनाया, कहां बनाया? जहां ईश्वर को सृष्टि का कर्ता माना, जब वहां वह शंका की जा सकती है कि ईश्वर ने इस शरीर को कैसे बनाया, कब बनाया, कहां बनाया, किस ढंग से बनाया, उस ईश्वर के हाथ पैर कैसे चलते हैं? तब वहां जैसे लोग उत्तर दिया करते हैं कि ईश्वर की मर्जी जब होती है, तब यह शरीर बन जाया करता है। उसका अर्थ यही तो हुआ कि यह आत्मा ईश्वरस्वभावी है, इस आत्मा में जब मर्जी होती है याने विभाव होता है, विकार होता है तो उसका निमित्त पाकर ये सब रचनाएं स्वयमेव हो जाया करती हैं, हो गयीं, हो जावो, पर इसमें मेरा कर्तृव्य क्या है, मैंने क्या किया इन परपदार्थों में? मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, केवल अपने गुणों का परिणमन ही कर सकता हूं।

जीव में शरीर के कारयितृत्व का अभाव- मैं इस शरीर का करने वाला नहीं हूं, इसी प्रकार इस शरीर का कराने वाला भी नहीं हूं अर्थात् शरीर को कोई बनाता हो और मैं उसे प्रेरणा करता होऊँ कि तुम बनावो तो ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसे कोई किसी से पैंसिल बनवावे और वह दूसरा किसी से बातें कर रहा हो तो कहते हैं कि अजी, इस बात को छोड़ो, हमारी पैंसिल बना दो। ऐसी प्रेरणा भी करने वाले हम नहीं हैं कि भाई हमारा शरीर जल्दी बनाओ, हम अभी विग्रहगति में पड़े हुए हैं। कोई मां बाप से भी ऐसा नहीं कहता कि हमें जल्दी ओकोपाई करो, हम अभी विग्रहगति में फिर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि कराने वाला यह कहलाता है, जिसे कार्य का प्रयोजन मिले। यह शरीर मिला, किन्तु इस शरीर का प्रयोजन मुझे नहीं मिल रहा है- किसी भी रूप में हो, पर शरीर के परिणमन का फल इस शरीर को ही मिल रहा है। इस शरीर में रहने वाले जो मूलस्कंध हैं, इनका सत्त्व बना हुआ है। शरीर के परिणमन का प्रयोजन भी इस शरीर को मिलता है; इस कारण भी मैं शरीर कराने वाला भी नहीं हूं।

आत्मा में शरीर के व शरीरकर्तावों के अनुमोदकत्व का अभाव- अच्छा, शरीर का कराने वाला भी न सही, किन्तु शरीर का व शरीर के कर्तावों का अनुमोदक तो मैं हूं ना? नहीं-नहीं मैं शरीर का अनुमोदक भी नहीं हूं और शरीर का कराने वाला मान लो कोई हो तो, मैं उसका अनुमोदक भी नहीं हूं। हो ही नहीं सकता अनुमोदक। कोई शंका कर सकता है कि शरीर की अनुमोदना करने वाले तो सभी मनुष्य, सभी पशु दिख रहे हैं। शरीर तगड़ा हो, मोटा हो और देख देखकर खुश हो रहे हैं, यह अनुमोदना नहीं है तो और क्या है? हां खूब मैं पुष्ट हो गया हूं, शाबासी भी देते जाते हैं तो यह अनुमोदना ही तो है। अरे ! अनुमोदना तो है, पर वास्तव में वह शरीर की अनुमोदना नहीं है। शरीर भिन्न द्रव्य हैं, यह मैं आत्मा भिन्न पदार्थ हूं, जो कुछ भी भाव मैं कर सकता हूं तो उसका आधार लक्ष्य मैं ही हो सकता हूं, उसका प्रयोग दूसरे पर नहीं हो सकता। वस्तु के स्वरूप में ही ऐसी अनियमितता नहीं है। मैं उस समय भी जबकि शरीर को देखकर खुश हो रहा हूं, उस समय भी शरीर को नहीं अनुमोद रहा हूं, किन्तु शरीर मैं हूं, शरीर में मेरा बड़प्पन है, शरीर से लाभ है आदिक जो मुझमें परिणाम बनते हैं, उन परिणामों से लगाव रक्खा है, उस निजपरिणाम का अनुमोदन कर रहा हूं, मैं अन्य पदार्थों का अनुमोदन कर ही नहीं सकता हूं- ऐसा मैं इस शरीर से अत्यन्त निराला आत्मतत्त्व हूं।

मोह में व्यर्थ की परेशानियाँ- भैया इस मोही जीव को बड़ी परेशानी हैं इस जिन्दगी में भी और मरते समय भी, नाना प्रकार की परेशानियां हैं; किन्तु वे सब परेशानियां एक मोहभाव; ममत्वभाव, अहंकारभाव के करने पर ही आश्रित हैं। मोहममता न हो तो एक भी परेशानी नहीं है और देखो दूसरों के लुट पिटने पर ये मूढ़ हँस भी लेते हैं, मजाक भी कर लेते हैं, परव्यामूढ़ों को यों दिखता है कि देखो यह बिना मतलब मोह में पड़ा हुआ है उन्हें दूसरों की बुराई स्पष्ट झलक में आती है, पर खुद क्या कर रहे हैं, खुद की क्या परिणति बन रही है उस पर स्पष्ट झलक नहीं आ पाती है। साधारणजन भी दूसरों के मोह पर हँसा करते हैं। देखो तो बिना प्रयोजन कितना तीव्र मोह है, कैसा दिमाग है, न करे यह ऐसा तो इसका क्या बिगाड़ है? यह तो खुश है, प्रसन्न, बड़ा है, सारी बातें ठीक हैं पर क्यों किया जा रहा है यह मोह? ऐसा दूसरे को दिखता है, किन्तु अपना नहीं दिखता है।

खुद की बेखबरी का एक दृष्टान्त- जैसे किसी जंगल में आग लग रही है। उस जंगल में एक मनुष्य था वह पेड़ पर चढ़ गया बहुत ऊँचे। उस जंगल में चारों ओर से आग लग रही थी। पेड़ के ऊपर खड़ा होकर देख रहा है, खुश हो रहा है अथवा जान रहा है कि देखो वह पशु मरा, देखो वह जानवर मरा, यह मरने को खड़ा है, अब इसके आग लगने वाली है चारों ओर निरख रहा था इस तरह, पर स्वयं की यह खबर नहीं है कि सब ओर की बढ़ती हुई यह आग इस पेड़ में भी लगेगी और मुझे भी भस्म करेगी? मेरा कहां अस्तित्त्व रहेगा? अपनी सुध उसे नहीं है, ऐसे ही मोही मानवों को पराई बात तो दिखती है पर अपनी विडम्बना नहीं दिखती है। कहते हैं कि दूसरे के आँख की फुल्ली भी दिखती है पर अपनी आँख का टेंट भी नहीं दिखता। यों ही दूसरे की विडम्बनाएँ तो इसे दिखती हैं पर अपनी बेवकूफी, अपनी मूढ़ता, अपना मोह इसे नहीं दिखता है।

मोह की कल्पित चतुराई का व्यामोह और वास्तविक सावधानी- भैया ! जिसके मोह का जो विषय लगा है उसे उस विषय में ऐसी चतुराई जंचती है कि इसे तो यथार्थ ठीक करना ही चाहिए ऐसा नीति में शामिल होना सा दिखता है औरों का तो दिखता है कि इसका मोह बिना काम का है। अरे जैसे अन्य की ये मोह की बातें बिना काम की हैं ऐसे ही अपने आपकी वे सारी बातें जो निज ज्ञायकस्वरूप का आलम्बन छोड़कर ज्ञायकस्वरूप के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों में, परपदार्थों में, परभावों में जो उपयोग फंस रहा हो वह सब अपनी विडम्बना हैं, और इस जीव को क्लेशगर्त में पटकने वाली है। ये सारी आफतें जीवन में इस शरीर के मोह से लग गयी हैं और मरते समय भी जो संक्लेश होते हैं, दु:खी होकर मरण होता है उसका भी कारण शरीर का मोह है अथवा जिन्हें अपना मान रक्खा था, ऐसे परिवार धन सम्पदा इन सबका मोह संक्लेश का कारण होता है। सावधानी इसे ही कहते हैं कि मरने से पहिले ही अपने को इन सब समागमों से भिन्न जानें, अपना न जानें, यह बुद्धिमानी बना ले अन्यथा मरण तो सब पर आयेगा। जीवन में यह बुद्धिमानी न बन सकी कि समागम में रहते हुए भी ये समस्त पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, अत्यन्त पृथक् हैं ऐसी दृष्टि न बन सकी तो दु:खी होने कोई दूसरा न आ जायेगा। खुद को ही दु:खी होना पड़ेगा।

परमार्थजागरण- यदि खुद को ये मरण क्लेश अभीष्ट न हो, जीवन की विडम्बनाएँ अभीष्ट न हो तो अभी से चेतियेगा, समस्त पदार्थों को भिन्न और असार श्रद्धा में बना लीजियेगा तो मरणकाल में भी वह क्लेश न होगा और जीवन भी शान्त रहेगा। मैं शरीररूप नहीं हूं, शरीर का कारण नहीं हूं, शरीर का कर्ता नहीं हूं, शरीर का कराने वाला नहीं हूं, और शरीर के करने वाले का अनुमोदन करने वाला भी मैं नहीं हूं- ऐसा मैं सर्व से अत्यन्त विविक्त चित्स्वभाव मात्र हूं, ऐसी दृष्टि हो जाया करती है जिस पुरुष के वह पुरुष पूर्वकृत सभी अपराधों से दूर हो जाता है और परमार्थप्रतिक्रमण उसके हो जाया करता है। उसके इस परमार्थप्रतिक्रमण के प्रताप से यह आत्मा अपने को शुद्ध स्वच्छ अनुभव करता है, यही निर्वाण का मार्ग है।

गाथा ८०

णाहं रोगो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।८०।।

दोषों का प्रतिक्रमण- मैं राग नहीं हूं, द्वेष नहीं हूं, मोह नहीं हूं और रागद्वेष मोह का कारण भी मैं नहीं हूं, उनका कर्ता भी नहीं हूं, कराने वाला भी नहीं हूं और उनको करते हुए जो कोई भी हों उनका अनुमोदक भी नहीं हूं। परमार्थ प्रतिक्रमण का उपासक अपने सहज परमार्थस्वरूप को निरख रहा है जिस स्वरूप के निरखने से परमार्थप्रतिक्रमण हो ही जाता है। जो विभाव लग चुका था, जो द्वेष किया गया था उस द्वेष का प्रतिक्रमण किया जा रहा है याने उस द्वेष को दूर किया जा रहा है।

प्रतिक्रमण के संबंध में एक जिज्ञासा- भला बतलावो तो सही कि ये रागादिक दोष जिस क्षण में लगे थे वे तो स्वत: ही उस क्षण में लगकर फिर नहीं रहे, फिर दूसरे रागद्वेष आये। रागद्वेषादिक पर्यायें अपने समय में होकर अगले समय में विलीन हो जाते हैं और अगले समय में दूसरे रागद्वेष पर्याय हो जाते हैं। एक विविक्षित रागपर्याय चिरकाल तक नहीं रहता। वह परिणमन है, अपने समय में हुआ बाद में नहीं रहा। अब उसका प्रतिक्रमण क्या करना, जो है ही नहीं, अब उसे दूर क्या करना रहा? और जब हो गया तब हो चुका, अब उसे दूर क्या करना? फिर प्रतिक्रमण कैसा?

उक्त जिज्ञासा का समाधान- प्रतिक्रमण पूर्वकृत दोष का यों है कि जो दोष लग चुका है उस दोष के प्रति यदि यह परिज्ञान न बने कि मैं तो दोषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं तो जो दोष लगा था वह तो उस समय लगा ही था, किन्तु अब परमार्थस्वरूप के परिज्ञान के अभाव में उसके संस्कार रहने के कारण उस ही तरह दोष निरन्तर लगते चले जायेंगे। इसलिए आवश्यक है कि जो दोष पूर्वकाल में लगा था उस दोष का प्रतिक्रमण किया जाय। वास्तविक बात तो यों है। अब निमित्तनैमित्तिक योग पूर्वक औपचारिक कहने का जो प्रयोजन हैं, जिस लिए प्रतिक्रमण किया जा रहा है वह भी देखो। जो दोष पूर्वकाल में लगा था उस ही काल में उस दोष लगने के ही समय में कर्मबंध हो गया, और वे वद्धकर्म सत्त्व में पड़े हुए हैं जिनका विपाक उदयावलि में मानों वर्तमानकाल में आ रहा है। अब उस लगे हुए दोष का प्रतिक्रमण करने से ऐसी पद्धति बनती है कि उस काल बांधे हुए कर्म का उदय फल न हो, उदयक्षण से पहिले ही संक्रांत हो जाय, उस ही क्षण जो अनुभाग में निर्णीत हो गया था वे सब प्रतिक्रान्त हो जाते हैं, लगे हुए दोष अब इस योग में निष्फल हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में परमपुरूषार्थ- प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में पुरूषार्थरूप बात यह है कि सर्व पर और परभावों से भिन्न चैतन्यस्वरूप मात्र निज को निरखना इस ही में हो जाता है प्रतिक्रमण। इस पुरूषार्थ से ही प्रतिक्रमण नहीं हो जाता है, किन्तु यथाख्यात और आलोचना भी परमार्थ से हो जाती है। वर्तमान में यह ज्ञानी समस्त रागद्वेषादिक विभावों से भिन्न ज्ञानस्वरूप अपने को तक रहा है। तो आलोचना तो स्पष्ट हो गयी परमार्थ पद्धति में और इस पुरूषार्थ के कारण पहिले बँधे हुए कर्म भी निष्फल हो गए। कैसे निष्फल हो गए कि पहिले बँधे हुए कर्मों के उदय का समय तो वर्तमान में है ना और वर्तमान में ही सर्वदोषों से भिन्न शुद्धज्ञानस्वरूप का अनुभवन कर रहे हैं, प्रतीति में ले रहे हैं तो इस काल पूर्वबद्धकर्म का उदय भी निष्फल हो रहा है। प्रतिक्रमण उसे कहते हैं कि पूर्वकृत दोषों को दूर कर देना, पूर्वकृत दोषों के कारण जो कर्मबंध हुआ उसका उदय इस वर्तमान भेदभावना के कारण निष्फल हो रहा है, तो यह प्रतिक्रमण ही तो हुआ। और इस ही पुरूषार्थ के कारण भविष्यकाल में भी तो फर्क पड़ जायेगा तो प्रत्याख्यान भी हो गया। यों दोषों से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आपको निरखने से परमार्थप्रतिक्रमण हो जाता है।

आत्मा के ज्ञान दर्शनगुण के परिणमन में औपचारिक विकार- यह परमार्थ प्रतिक्रमण का उपासक अपने आपमें चिंतन कर रहा है- मैं न राग हूं, न द्वेष हूं, न मोह ही हूं। रागद्वेष मोह क्या है? इनके दो हिस्से कर लो रागद्वेष। ये एक विभाग हुए और मोह यह एक विभाग हुआ। रागद्वेष तो हैं चारित्रगुण के विकार और मोह है श्रद्धा गुण का विकार। आत्मा में अनन्तगुण हैं जिनमें चर्चायोग्य, प्रयोजनयोग्य कुछ गुणों के नाम ले लो। दर्शन, ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र, आनन्द इनके अतिरिक्त क्रियावतीशक्ति, योगशक्ति इत्यादि अनन्तगुण हैं, पर इस प्रकरण में इन पांचों को ले लीजिए। इनमें जो दर्शनगुण है और ज्ञानगुण है उसका कोई परिणमन संसर्ग से विकृत कहा जाता है। इसके स्वरूप में विकार नहीं है, जैसे ज्ञान का परिणमन जानना है, हम कैसे ही उल्टे चल रहे हों, खोटी दृष्टि से, खोटे आशय से जान रहे हों, बड़े विकल्प मच रहे हों उस काल में भी ज्ञान का जितना काम है वह तो साफ स्वच्छ है। जितनी उल्झनें लगी हैं उनमें ज्ञान का हाथ नहीं है, किन्तु रागद्वेष मोह इन सब गंदगियों का वहां नाच है। ज्ञान के स्वरूप में विकार अंकित नहीं है। जो प्रतिभास मात्र की बात है वह तो ज्ञान का काम है और जो आकर्षण लगा है, विकल्प हो रहे हैं, इच्छा बढ़ रही है ये सब ज्ञान के काम नहीं है, ये सब रागद्वेष की बातें हैं। फिर संसर्गकृत अथवा परिस्थितिवश साधनकृत दर्शन और ज्ञान के भेद किए भी गये हैं। दर्शन चार हैं और ज्ञानमार्गणा ८ हैं। ज्ञान की चर्चा यहां विस्तृत नहीं करनी है।

आनन्द गुण के परिणमन- एक गुण है आनन्दगुण। आत्मा में आनन्द नाम की शक्ति है, जहां तीन परिणमन होते हैं- सुख दुःख और आनन्द। जहां इन्द्रियों को सुहावना लगे, इस प्रकार का जो आनन्दशक्ति का विकार है उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियों को बुरा लगे ऐसा जो आनन्दशक्ति का विकार है उसे दुःख कहते हैं तथा सुख दुःख विकार से रहित शुद्ध आह्लादस्वरूप अनाकुलतारूप जो आनन्दशक्ति का स्वाभाविक परिणमन है उसको आनन्द परिणमन कहते हैं। इसकी भी चर्चा इस गाथा में नहीं की जा रही है।

सम्यक्त्व गुण और सम्यक्त्व परिणमन- अब उन पांचों गुणों में से दो गुण शेष रहे श्रद्धा और चारित्र। संसर्गकृत समझो, अपेक्षाकृत समझो अथवा साधनकृत समझो, श्रद्धा गुण की मार्गणा 6 बतायी गयी हैं जिसे सम्यक्त्व मार्गणा कहते हैं। प्राचीन प्रणाली में इस गुण का नाम सम्यक्त्वगुण कहा है। इस सम्यक्त्वगुण के कई परिणमन हैं जिनमें एक सम्यक्त्व परिणमन भी है, मिथ्यात्व भी है, मिश्र भी है। तो जैसे आनन्द शक्ति का भी नाम आनन्द है और उस शक्ति का जो शुद्ध परिणमन है उसका भी नाम आनन्द है, इसी तरह जिस श्रद्धा गुण को हम कह रहे हैं उस गुण का भी सम्यक्त्व नाम है और उस सम्यक्त्व गुण का जो स्वाभाविक परिणमन है उसका भी सम्यक्त्व नाम है। सम्यक्त्व मार्गणा के 6 भेद होते हैं- औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिथ्यात्व, सासादन भाव और मिश्रभाव। श्रद्धागुण के विकास में विश्वास प्रतीति श्रद्धान् अथवा आशय का विपरीत सही बनना यह कार्य हुआ करता है।

मोहपरिणमन का अन्तस्तत्त्व में अभाव- जहां इस श्रद्धा गुण का बिल्कुल विपरीत परिणमन है, आशय विपरीत हो गया है उसे कहते हैं मोह। लोग सीधे कह देते हैं कि तुमने अपने लड़के से बड़ा मोह किया केवल इस बात को देखकर कि बहुत खिलाता है, उसे गोद में लिए रहता है, पर जिसको देखकर लोग मोह कह देते हैं वह तो राग है। उस राग की ओर भीतर जो यह आशय पड़ा हुआ है कि यह मेरा पुत्र है, इससे ही मुझे सुख मिलता है, मिलेगा, ऐसे विपरीत आशय का नाम मोह है। इस मोह के फलित परिणाम में लोक में मोह शब्द कहने की रूढ़ि है। मोह कहते हैं विपरीत आशय को। जिन पदार्थों का समागम हुआ है वे सब भिन्न हैं, मेरे लिए असार हैं। उनसे मुझमें कुछ आता जाता नहीं। मेरे लिए वे कुछ भी शरण नहीं हैं। इसके प्रति जो विपरीत आशय बनता है कि यह ही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा जीवन है, इस ही मिथ्या आशय का नाम मोह है। यह मोह आत्मा में नहीं होता। मैं तो वह हूं जो अपने स्वरूप सत्त्व के कारण अपने आप अपने में नित्य प्रकाशमान् रहता हूं, अंतःप्रकाशमान् रहता हूं। यह मोह मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से होता है। इसलिए औदयिक भाव है, नैमित्तिकभाव है। मैं किसी पर का सहारा लेकर सत्त्व रखता होऊँ, ऐसा तो नहीं होता। यह मिथ्यात्वभाव तो पर के उदय का निमित्त पाकर होता है। मैं मोह नहीं हूं।

चारित्रगुण के विकार- दूसरा विभाग है रागद्वेष। ये चारित्रमोह के उदय से होते हैं। मिथ्यात्व दर्शनमोह के उदय से हुआ था जिसने दृष्टि को ही मोहित कर दिया था, बेहोश कर दिया था, विपरीत आशय वहां बन गया था, किन्तु चारित्रमोह के उदय

में यहां चारित्र मोहित हो रहा है, दूषित हो रहा है, यह आत्मा अपने आपके यथार्थस्वरूप में ही रमता हैं, यह था इसका चारित्र; यह थी इसकी कला और करतूत। पर हो क्या रहा है? इसने अपने आपके घर से हटकर बाहर में दृष्टि लगायी है और यह उनको सुहावना और असुहावना मान रहा है, ये हैं चारित्र शक्ति के विकार।

चारित्रगुण के विकारों में राग और द्वेष का विभाग- चारित्रमोह के २१ प्रकार हैं। उनमें से अनन्तानुबंधी कषाय तो सम्यक्त्व गुण का भी घात करने में निमित्त है, इसलिए उसमें सम्यक्त्वघात की निमित्तता मुख्य समझ लीजिए। क्योंकि जो सम्यक्त्व का घात करता है वह चारित्र का घातक तो है ही, पर जो चारित्र का घात करता है वह सम्यक्त्व का घात कर सके या न कर सके, उसमें ऐसा भाज्यपन है। इन २१ कषायों में से उनको संक्षिप्त कर लीजिए तो वे सब क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार में गर्भित हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों में से क्रोध और मान तो कहलाता है द्वेष माया और लोभ ये कहलाते हैं राग। इस प्रकार नौ कषायों में हास्य, रति, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये तो कहलाते हैं राग और अरतिशोक ये कहलाते हैं द्वेष। भय और जुगुप्सा इनमें मुख्यता तो द्वेष की है, पर यह राग का भी सम्बन्ध रखता है। यों ये समस्त चारित्र के विकार दो भागों में बँट गए-राग और द्वेष।

आत्मस्वरूप में राग द्वेष मोह तीनों का अभाव- जहां इन्द्रियों को सुहावनापन लग जाय वह तो है राग और जहां असुहावनापन लग जाये उसे कहते हैं द्वेष। ये रागद्वेष मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक नित्य अन्तःप्रकाशमान् ज्ञायकस्वरूप है। इन तीनों में से किसी भी रूप मैं नहीं हूं। यहां पर्याय को दृष्टि में लेकर नहीं कह रहे हैं किन्तु स्वभाव, स्वरूप, सहज सत्त्व को दृष्टि में लेकर कहा जा रहा है, क्योंकि परमार्थप्रतिक्रमण परमार्थस्वरूप का आलम्बन करने से ही हुआ करता है। मैं इन तीनों रूप नहीं हूं।

अन्तस्तत्त्व में रागद्वेष मोह की कारणता का भी अभाव- मैं इन तीनों रूप नहीं हूं यह तो है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मैं इन तीनों का कारण भी नहीं हूं। यद्यपि इन विकारभावों का आधार मैं हूं। ये विकार कहीं अचेतन पदार्थ में नहीं हो रहे हैं। जो चेतन हैं वहां ही रागद्वेषादि की तरंगे उठा करती हैं, किन्तु यह मैं ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा उन विकारों का कारण हो जाऊँ तो फिर ये सदा रहने चाहियें। अंतरंगस्वभाव की दृष्टि से भी यह मैं चित्स्वरूप रागादिक विकारों का कारण नहीं हूं, किन्तु रागविकाररूप भाव ही अथवा यों समझ लीजिए कि योग और उपयोग अथवा अभेदभाव से यों भी कह लीजिए कि वर्तमान विभावपर्याय परिणत यह जीव सो उपादान कारण है किन्तु परमार्थस्वरूप की दृष्टि में निरखा गया यह शक्तिमात्र मैं कारणकार्य के भेद से भी रहित हूं। न मुझे कारण कहा जा सकता है और न मुझे कार्य कहा जा सकता है। यों मैं अंतस्तत्त्व, चित्स्वभाव उन रागादि विकारों का कारण भी नहीं हूं।

सच्चिदानन्दानुभवी का चिन्तन- शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से अपने आपको सच्चिदानन्दस्वरूप अनुभव की स्थिति में इसने जो अनुभव प्राप्त किया था, उस आधार पर यह ज्ञानी चिंतन कर रहा है कि मेरे सर्वप्रकार के मोह, राग और द्वेष नहीं है और न मैं इन राग, द्वेष मोह का कारण हूं। इसका निमित्तकारण तो कर्मों का उदय है और उपादानकारण उस योग्यता से, विशिष्ट संस्कार से सम्पन्न यह जीवभाव है। यह मैं आत्मतत्त्व चित्स्वभाव परमब्रह्म हूं, इन दोषों का कारण नहीं हूं।

राग द्वेष मोह के कर्तृत्त्व का अभाव- अब यह बतला रहे हैं कि मैं इन दोषों का कर्ता भी नहीं हूं। ये राग, द्वेष, मोह योग्य उपादान और योग्य निमित्त का सन्निधान पाकर हो जाते हैं। यह मोही जीव, रागीद्वेषी जीव तत्सम्बन्धी विकल्प करता हुआ भी और परपदार्थों के सम्बंध में यह मैं कर रहा हूं- ऐसा विकल्प करता हुआ भी इन विभावों को नहीं कर रहा है, किन्तु ये विभाव योग्य परिस्थिति में होते चले आ रहे हैं, मैं इनका कर्ता नहीं हूं।

परमार्थतः कर्तृत्व का अनवकाश- जैसे रोना और हँसना इनको कोई कर नहीं सकता, किन्तु परिस्थिति में हो जाते हैं, किसी का प्रोग्राम बनाया जाय कि अब यह इतने बजकर इतने मिनट पर अपने रोने का प्रोग्राम करे तो यह नहीं हो सकता है, जिसे वास्तव में रोना कहते हैं। यों तो कोई अपनी कला से ऐसा रोना दिखा सकता है कि जिसे देखकर लोग रो उठें, पर वास्तविक रोना जो चीज है वह परिस्थितिवश अपने आप हो जाता है। हँसना भी जो वास्तविक हँसना है वह परिस्थितिवश हो जाता है। किसी का प्रोग्राम रख दें कि यह ८ बजकर १० मिनट पर हँसे, ऐसा हँसने का प्रोग्राम करे कोई तो हँसी न आयेगी। भले ही कोई झूठा हँसे और बाद में उस हसँने को देखकर लोग हँसे और उससे वास्तव में हँसी आ जाय तो वह परिस्थितिवश

हँसी आ गयी, किन्तु जब यह करने का भाव रख रहा था तब हँसी न आयी थी। यह एक मोटी बात कही जा रही है। ऐसे ही जानो कि राग द्वेष, मोह ये सब विभाव परिस्थितिवश जीव में होते हैं, इनका करने वाला जीव नहीं है। हां, इस दृष्टि से करने वाला कह लो कि जो परिणमता है वह तो कर्ता कहलाता है और जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है और जो परिणति क्रिया है वह क्रिया कहलाती है। यों भेद डालने पर करना कहलाया जाता है, परन्तु अन्तर में तो देखो करना होता क्या है? योग्य उपादान और योग्य निमित्त के सन्निधान में उपादान में विभावरूप परिणमन बन जाया करता है। मैं इन रागादिक भावों का करने वाला भी नहीं हूं।

वियोगबुद्धि के कारण कर्तृत्व का अभाव- अब कुछ और अन्तर में चलो तो अन्तरात्मज्ञानी पुरुष की बात निहारो। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष रागादिक विभावों से निवृत्त करता हुआ अपना उपयोग रखता है अर्थात् विकाररहित बुद्धि बनाये रहता है। ज्ञानी जीव को किसी भी समय ज्ञान अवस्था में विभावों में संयोगबुद्धि नहीं जगती है। संयोग बुद्धि का अर्थ यह है कि यह विभाव मैं हूं, इस प्रकार की प्रतीति रखना। सो यह ज्ञानी विकारभावों को अर्थात् रागादिक भावों को नहीं प्राप्त हो रहा है। जब विकार में वियोग बुद्धि करता हुआ किसी हद तक स्वरूपाचरण में है तो उसे करने वाला कैसे कहा जाय? जैसे कोई पुरुष काम न करता हो किन्तु परिस्थितिवश करना पड़ता हो तो करता हुआ भी उसे न करने वाला कहेंगे। क्योंकि अन्तर से इच्छा, अभिलाषा, प्रतीति उसकी इस ओर नहीं लग रही है। तब यह ज्ञानीपुरुष जिसके कि पूर्वकृत कर्मोदय का निमित्त कर ये रागादिक विकार होते हैं उनमें संसर्ग नहीं करता है, फिर इसे रागादिक का कर्ता कैसे कहा जाय? यह इन विकारों का कर्ता नहीं है।

स्वभाव की अपरिवर्तनीयता के कारण कर्तृत्व का अभाव- अब इससे और अन्तर में चलो, मैं यह आत्मा स्वत: अपने स्वरूप सत्त्व के कारण सहजचित्स्वभावमात्र हूं- यह स्वभाव, यह मेरा स्वरूप अनादि अनन्त नित्यप्रकाशमान् है, इस स्वभाव को इस स्वभावदृष्टि में अपरिणामी निर्णीत किया गया है। यह मैं स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व फिर करने वाला ही क्या रहा? यों मैं रागद्वेषमोहभावों का कर्ता भी नहीं हूं।

आत्मस्वरूप में रागादिक के कारयितृत्व का अभाव- इसी प्रकार मैं तो रागादिक भावों का कराने वाला भी नहीं हूं। कराने वाला उसे कहते हैं, जो करने वाले को प्रेरणा दे तथा जिसे कार्य का फल मिले, उसे कराने वाला कहते हैं। ये रागादिक भाव होते हैं, इनका करने वाला जो है, वही स्वयं प्रेरणा भी करने वाला हुआ। करने वाला और प्रेरणा देने वाला यह कोई भिन्न-भिन्न नहीं है। रागादिक का करने वाला रागादिक योग्य विकारभाव ही है और वह ही अपने आपकी कृत्ति में प्रेरणा बनाए रहता है। वैसे प्रेरणा और कर्तृत्व– ये खुद जुदी चीजें नहीं हैं। जब कर्तृत्व ही नहीं है, केवल होना मात्र है, परिस्थितिवश विकार का भवनमात्र है तो फिर किसी प्रेरणा की बात क्या कही जाए? दूसरी बात इसके करने वाले जो विभाव हैं, वे परिणमते रहते हैं।

अतीतकल्प अन्तस्तत्त्व में कर्तृत्व भोक्तृत्व का भी अभाव- अब यहां यह निरखिए कि उन परिणमने वालों का प्रयोजन किसे मिलता है? इन रागादिक भावों के परिणमन का प्रयोजन इस अशुद्ध अवस्था को ही मिलता है। स्वभाव तो बंधमोक्ष की कल्पना से भी रहित निजस्वरूपास्तित्त्वमात्र है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित है। इस आत्मा का न कर्तृत्व स्वभाव है, न भोक्तृत्व स्वभाव है, फिर यह कराने वाला ही क्या? कराने वाले में भोक्तृत्व की प्रधानता होती है, करने वाले में कर्तृत्व की प्रधानता होती है, पर यह अन्तस्तत्त्व, यह परमपारिणामिक भाव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से देखा गया कि यह चित्स्वभाव, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्धमोक्ष आदि सर्वप्रकार की विकल्पनावों से विविक्त है- ऐसा यह मैं अन्तस्तत्त्व कराने वाला भी कैसे हो सकता हूं?

रागादिक के कर्तावों के अनुमोदकत्व का भी अन्तस्तत्त्व में अभाव- इस ही प्रकार रागादिक भावों का अथवा रागादिक भावों के करने वाले का यह मैं अन्तस्तत्त्व अनुमोदक भी नहीं हूं। इस प्रकार में 'मैं' का भली प्रकार निर्णय कर लो कि किस 'मैं' की बात कही जा रही है? जिस 'मैं' को बताया जा रहा है, उस 'मैं' का स्वरूप समझ में न आएगा तो यह सब वर्णन विरूद्ध जंचेगा और बेकार सा मालूम होगा, किन्तु इस 'मैं' का जो सहजस्वरूप है, उस सहजस्वरूप में 'मैं' की निरख होने पर यह सब वर्णन सारभूत विदित होगा। अहो ! यह अन्तस्तत्त्व सकल परभाव से विविक्त है। मैं इस स्वरूप को जाने बिना संसार में रूलता चला आया हूं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभावत: कृतकृत्य हूं, अपने अगुरूलघुत्व गुण के कारण शुद्ध अर्थपर्याय

से परिणमन का वर्तन करने वाला यह मैं आत्मतत्त्व बाह्यदृष्टि के अपराध के होने पर भी मध्य में बना हुआ साथ चलता जा रहा हूं। यह 'मैं' आत्मा इन रागादिक के कर्तावों का अनुमोदक भी नहीं हूं।

व्यामोही जीव का संसारपरिभ्रमण- इस जीवलोक ने मोहवश इस लोक में अनन्त परिवर्तन कर परिभ्रमण किया है और इन बाह्य और अन्तरपरिभ्रमण में इसने यह चाह की कि सारे जगत् पर एकछत्र साम्राज्य बनाऊं। कितनी मूढ़ता की बात है? कहां तो यह जीव समस्त पर और परभावों से विविक्त निर्मल विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है और कहां असार भिन्न इन समस्त परपदार्थों की आशा बुद्धि दृष्टि लगाए हुए रह रहा है। इसने चाहा कि मैं सारे विश्व पर एकछत्र साम्राज्य करूं। ऐसा मोहरूपी पिशाच इसके पीछे लग बैठा कि अब यह अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए कोल्हू के बैल की तरह ज्ञाननेत्र पर मोह की पट्टी बांधकर इन्हीं पंचेन्द्रिय के विषयों में गोलमोल, बारबार भ्रमण कर रहा है, चक्कर काट रहा है। जो विषय कल भोगा था, वही आज भोग रहा है, लेकिन जान रहा है कि आज कुछ नवीन काम कर रहे हैं और नवीन-नवीन अनेक विषय भोग रहे हैं।

विषयजाल में फंसने का कारण- भैया ! यदि मोह की पट्टी न बंधी होती इसके ज्ञाननेत्र पर तो इन भोगों में आसक्ति ही नहीं हो सकती है। इन भोगों से अपना उपभोग अलग कर लेना। जैसे कोल्हू के बैल के नेत्र पर पट्टी बाँध देते हैं तेली लोग, जिससे कि उस बैल को पता न लगे कि मैं गोलगोल घूम रहा हूं, वह यही जानता रहे कि मैं सीधा चला जा रहा हूं। यदि उसके चित्त में यह आ जाय कि मैं गोलगोल घूम रहा हूं तो वह चक्कर खाकर गिर जाएगा, चल न सकेगा, इसलिए आंखों पर पट्टी बांध देते हैं। ऐसे ही इस जीवलोक के ज्ञाननेत्र पर मोह की पट्टी बंधी हुई है, क्योंकि यदि यह जान जाएगा कि मैं भव-भव के भोग छोड़ और ऐसे जूठे भोगों को भोग रहा हूं; जिनको भव-भव में भोगा और इस भव में भी बहुत काल तक भोगा तो ऐसे जूठे भोगों को भोग रहा हूं- ऐसा विदित हो जाएगा तो यह उनसे अलग ही हो जावेगा। इस प्रकार यह अज्ञान से तिरोहित होता हुआ इन विषयों को दौड़-दौड़कर, उचक-उचककर, अपने को बड़ा चतुर मानकर भोग रहा है।

विषयगर्त में गिरने की शिक्षा देने वाला कुशल प्रिंसिपल- भैया ! इतना ही नहीं कि यह विषयजाल में फंस ही रहा है, उन्हें भोग भी रहा है स्वयं और दूसरों को भोगने की कला बताकर यह प्रिंसिपल बन रहा है। सो इस प्रकार इस व्यामोही जीव ने अनन्तबार इन भोगों को भोगा, अनुभव किया, परिचय किया, किन्तु इन सब दोषों से विविक्त नित्य अन्त:प्रकाशमान् इस चित्स्वरूप की याद भी नहीं की, क्योंकि कषायों के साथ निजब्रह्मस्वरूप को एकमेक कर डाला। जैसे हाथी के आगे हलुवा भी परोस दो और घास भी डाल दो तो उसको यह विवेक नहीं रहता कि मैं इस हलुवे को खाली चखकर तो देखूँ। वह तो घास और हलुवा दोनों को लपेटकर खा लेता है। यों ही यह अज्ञानी परमार्थत: भोग तो रहा है ज्ञान के परिणमन को, किन्तु अज्ञानवश रागद्वेष विकारों को लपेटकर और इतना ही नहीं बल्कि कल्पना में रागद्वेष के आश्रयभूत इन बाह्यपदार्थों को लपेटकर अनुभवन करना चाहता है।

अन्तस्तत्त्व के परिचय के अभाव में परमार्थप्रतिक्रमण का अभाव- यह अन्तस्तत्त्व खुद ही खुद में प्रकाशमान् है, लेकिन इस मोहभाव के कारण तिरोहित है। सो अपने को इसने समझा ही नहीं कुछ कि मैं क्या हूं और इतना ही नहीं, जो इस 'मैं' के समझने वाले हैं- ऐसे सन्तपुरूषों की सेवा उपासना संगति भी नहीं की। इस कारण इस व्यामोही जीव ने न कभी निजपरमब्रह्म की बात सुनी, न कभी परिचय में लाया और न ही अनुभूत की। जब तक सम्पूर्ण दोषों से विविक्त विशुद्ध निजअन्तस्तत्त्व का परिचय न होगा, तब तक दोष विकार निकल नहीं सकते। परमार्थत: इस अन्तस्तत्त्व का निर्णय होने पर प्रतिक्रमण हो सकता है।

विविक्तता के दर्शन- परमार्थप्रतिक्रमण के उपासक इस ज्ञानी संत ने अपने आपको कितना विविक्त निरखा है- न मैं नारकादिक गतिरूप हूं, न मैं किसी मार्गणा गुणस्थान जीवस्थान आदिक रूप हूं, न मैं बालक, न मैं जवान, तरूण आदिक अवस्थावोंरूप हूं, न मैं रागद्वेष मोह विकाररूप हूं और इतना ही नहीं, बल्कि इन सबका मैं कर्ता भी नहीं हूं, कारयिता भी नहीं हूं और अनुमोदक भी नहीं हूं। ऐसे इन कल्पित समस्त कुटुम्ब परिवारों से, चेतन अचेतन परिकरों से उपेक्षित होकर इन देहबन्धन, कर्मबन्धन, भाव बन्धन आदिक से रहित जिस सहज परमब्रह्मस्वरूप का भान रहता है, मैं तो वह हूं।

परमार्थप्रतिक्रमण का आधार निर्विकल्प स्वदर्शन- देखिये इस 'मैं' के बताने के प्रयोजन से ही अनेक ऋषि संतों ने यह बात प्रसिद्ध की है कि यह मैं आत्मा सर्वव्यापक एक हूं। एक आत्मा की ही झलक सब जीवों में पड़ी हुई है। इस सम्बन्ध में

वास्तविकता क्या है? वस्तुत: निजप्रदेशमात्र, ज्ञान और आनन्द का जितने में अनुभव हो सकता है, उतने विस्तार को लेकर ये समस्त आत्मा पृथक्-पृथक् अपने स्वरूप को रख रहे हैं, किन्तु जब कोई आत्मा अपने इस व्यक्तित्व पर दृष्टि न करके अपने परिणमनों पर दृष्टि न करके केवल अपने सहजस्वरूप को निरख रहा है, तब अपने आपकी स्थिति इससे भी और विशाल होती है। यह अन्तस्तत्त्व न व्यापक है, न अव्यापक है, यह अन्तस्तत्त्व न एक है, न अनेक है। यह अन्तस्तत्त्व मेरे ज्ञानप्रकाश में है, पर मेरी कल्पना में नहीं है। ऐसे परमविविक्त शुद्ध अन्तस्तत्त्व की उपासना से तृप्त रहने वाला यह ज्ञानीसंत पूर्वकृत दोषों का प्रतिक्रमण स्वत: ही कर रहा है। मैं किसी भी दोषरूप नहीं हूं, किन्तु शाश्वत् चैतन्यस्वरूपमात्र धर्मादिक द्रव्यों की तरह ६ साधारण गुणोंकर सम्पन्न चैतन्यतत्त्व हूं। इस प्रकार की दृढ़ भावना से यह ज्ञानीपुरुष परमार्थप्रतिक्रमण कर रहा है।

परमार्थप्रतिक्रमण में विभावविविक्तता का दर्शन- अब इस परमार्थप्रतिक्रमण के सम्बन्ध में जो आदि के पन्चरत्नोंस्वरूप गाथाएं चल रही थीं, उनमें से अब अन्तिम गाथा में कषाय का प्रतिषेध करते हुए आचार्यदेव परमार्थप्रतिक्रमण की दिशा बता रहे हैं।

गाथा ८१

णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।८१।।

ज्ञानी का केवलस्वरूप प्रतीति का पुरूषार्थ- परमार्थ सहज आत्मस्वरूप के अवलोकन के बल से परमार्थ प्रतिक्रमण को करता हुआ यह अन्तस्तत्त्व का रूचिया ज्ञानी संत अपने आपके यथार्थस्वरूप की प्रतीति में चिंतन कर रहा है कि न मैं क्रोध हूं, न मान हूं, न माया हूं और न लोभ रूप हूं तथा मैं न इनका कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न इनका व इनके कर्तावों का अनुमोदन करने वाला ही मैं हूं।

ज्ञानी का केवलस्वरूपप्रतीति का पुरुषार्थ- इस अन्तरात्मा ने निर्लेप निरपेक्ष स्वरूप सत्त्व के कारण स्वत: सिद्ध सनातन अन्त:प्रकाशमात्र चैतन्यशक्ति का आलम्बन लिया है और उस स्वभाव की ऐसी प्रतीति कर रहा है कि न मैं कषाय सहित हूं और न कषायरहित हूं। यहां तो यह बताया गया है कि मैं क्रोधादि कषायरूप नहीं हूं, किन्तु साथ ही यह भी समझना कि मैं क्रोधादि कषायरहित भी नहीं हूं तब फिर तीसरी बात क्या है? न मैं कषायसहित हूं और न मैं कषायरहित हूं। तो तीसरी बात और क्या हो सकती है? तीसरी बात तो है ही? वह तीसरी बात नहीं है किन्तु वह पहिले से भी पहिली है, वह है सहजचैतन्यस्वरूप। कषायसहित बोलने में तो विकार भाव का संसर्ग लगा है यह तो स्पष्ट विदित होता है पर कषायरहित बोलने में भी इसने इस अन्तस्तत्त्व में पूर्वकाल में उनके संसर्ग लगा डाले हैं यह ध्वनित होता है। कषाय सहित होने के काल में भी यह जीव, यह अन्तस्तत्त्व न कषाय सहित है और न कषायरहित है। ऐसे परम विविक्त अन्तस्तत्त्व के सम्बन्ध में आज यहां यह कहा जा रहा है कि मैं, क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हूं यह पूर्ण युक्तियुक्त है।

कषायों की चारित्र विकाररूपता- ये चारों कषायें आत्मा के चारित्र गुण के विकार हैं। चारित्रगुण का स्वाभाविक विकास आत्मरमण है। जैसा हमारा सहजस्वभाव है, उस स्वभाव में मग्न होना, उस स्वभावरूप निरंतर बर्तना- यह है चारित्र का शुद्ध विकास, किन्तु जीव की स्वयं की अशुद्ध उपादान की योग्यता के कारण और बाह्य में क्रोधादिक प्रकृतियों के उदय अथवा उदीरणा का निमित्त पाकर यह जीव क्रोधादिक कषायोंरूप परिणत हो जाता है। क्रोधादिक कषायों से परिणत हो जाने पर वहां आत्मा में, सर्वांग सर्वप्रदेशों में क्रोधादिक होते हैं।

विकार में विकारी की विकारात्मकता- यहां ऐसा नहीं है के समुद्र में ऊपर से लगता है कि तरंग उठ रही है और समुद्र के बहुत भीतर चलकर विचलता का नाम भी नहीं है, वह ज्यों का त्यों शांत है- ऐसा इस आत्मा में नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक आत्मा तो एक द्रव्य है। एक-एक पूर्ण पदार्थ है और वह समुद्र, जितनी बूँदे हैं उन्हें कल्पना में लाइए, वहां अनगिनती बूँदे हैं, उन अनगिनती बूँदों का वह एक समूह है। जैसे १०-२० बालक एक के ऊपर एक लादकर यों खेल रहे हों तो चाहे ऊपर के बालक कुछ कर रहे हों और नीचे का बालक शांत पड़ा हो, क्योंकि भिन्न-भिन्न बालक हैं- ऐसे ही समुद्र में भी भिन्न-भिन्न बूँदे हैं। इस कारण वहां यह हो जाता है कि ऊपर तरंग है, भीतर जलकण बहुत सा निष्तरंग है, किन्तु यहां

आत्मपदार्थ में ऐसा नहीं है कि ऊपर से यह क्रोधादिक कषायोंरूप है और भीतर में यह शांत परिणम रहा है। क्रोधादिक की स्थिति में भी जो आत्मा को शांत निरावरण निर्दोष आदिक बताया जाता है, वह शक्ति अपेक्षा कही जाती है। स्वभाव मेरा ऐसा है कि स्वभावदृष्टि से क्रोध होता हुआ भी इस ज्ञान को क्रोध नहीं है- ऐसा नजर आ रहा है।

क्रोधकषाय की विभिन्नरूपता- क्रोधकषाय के अनुभागों की रेखा से उपमा दी गई है। क्रोधकषाय ४ प्रकार के होते हैं- अनन्तानुबंधी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, संज्वलन क्रोध। अनन्तानुबंधी क्रोध पाषाणरेखा की तरह चिरकाल तक अपनी वासना बनाये रहता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध खेत को जोतने से हलकृत जो गहरी रेखा होती है, उसकी तरह कुछ माह तक (६ माह तक) वासना रखता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध चक्रलीक की तरह कुछ दिनों तक (१५ दिनों तक) वासना रखता है। संज्वलन क्रोध जलरेखा की तरह कुछ सेकिण्डों तक ही (अन्तर्मुहूर्त तक) वासना रख पाता है।

क्रोध की घातकरूपता व अनात्मरूपता- क्रोधभाव एक विकारभाव है। यह क्रोध आत्मा के समस्त गुणों को फूंक देता है। क्रोध को अग्नि की उपमा दी जाती है। कोई बड़ा परोपकारी और दयालु हो, दूसरों की मदद करता हो, किन्तु एक क्रोध का स्वभाव बना हो तो उस क्रोधप्रकृति से वे सब उसके गुण तिरोहित हो जाते हैं। लोग उसका ऐहसान भी नहीं मान पाते हैं। क्रोध को चांडाल की उपमा दी गई है। साहित्य में क्रोध को चांडाल कहा गया है। क्रोधभाव क्रोधनामक कर्मप्रकृति के उदय अथवा उदीरणा से प्रकट होता है। क्षमागुण का घात करने वाला क्रोध है। यह शांति का साक्षात् घातक है। ऐसा विकारभाव क्या मैं हो सकता हूं? साधारण विवेकी भी यह नहीं मान सकता है कि मैं आत्मा क्रोधरूप हूं। मैं क्रोधरूप नहीं हूं।

आत्मा का वास्तविक बड़प्पन- मान घमण्ड को कहते हैं। जब इस जीव को अपने आनन्दमय ज्ञानस्वरूप का परिचय नहीं होता है, तब अपना असली बड़प्पन इसकी अवलोकना में नहीं आता। सो भाई असार परतत्त्वों का लक्ष्य करके यहां नकली बड़प्पन मान्यता में रह जाता है। इसके ही मायने मानकषाय है। वास्तविक बड़प्पन ध्यान में आये तो मानकषाय रह नहीं सकता। मानकषाय की उल्टी चाल तो निरखिये। अपमान होना अच्छी बात है या बुरी बात है? अच्छी बात है। जीवस्थान चर्चा में आप पढ़ते हैं कि अपगतवेद होना अच्छी बात है या बुरी बात है? अच्छी बात है। अपगतवेद मायने वेद खत्म हो गये। ऐसे ही अपमान हो गया मायने मानकषाय खत्म हो गया, तो अपमान की अवस्था बहुत ऊँची अवस्था है। जहां मानकषाय अपगत हो गया- ऐसा ऊँचा ज्ञानीसंत ही अपमान की स्थिति का वास्तविक अधिकारी है।

अभिमानी का अभिमान ही वास्तविक अपमान- व्यामोही जीव ने जो अपना नकली बड़प्पन माना, वही मानकषाय है। एक अभिमानी पुरुष किसी अपने से गिरे पुरुष को तुच्छ निरखता है। जैसे पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति नीचे चलने वाले हजारों लोगों को कीड़े मकोड़ों की तरह निरखता है- ऐसे ही नीचे चलने वाले हजारों पुरुष पहाड़ पर चढ़े हुए व्यक्ति को कीड़े मकोड़ों की तरह दिखता है। अभिमान करने वाले को विवेकी लोग उल्लू बनाकर रखते हैं। वह जानता है कि यह लोग मेरा कुछ बड़प्पन बना रहे हैं, पर लौकिक पुरुष के द्वारा की गयी मजाक को भी वह मजाक नहीं समझ पाता है और अपना बड़प्पन महसूस करता है। यह है अभिमान की प्रकृति वाले पुरुष की आंतरिक कहानी।

मानकषाय की विभिन्नरूपता- मानकषाय से हृदय, उपयोग कठोर हो जाता है। इसी कारण मानकषाय की उपमा कठोर वस्तु से दी जाती है। मानकषाय संक्षिप्तरूप से चार भागों में विभक्त है- अनन्तानुबंधीमान, अप्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण मान, संज्वलन मान। अनन्तानुबंधी मान वज्र की तरह या पाषाण की तरह कठोर होता है। अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डी की तरह कठोर होता है, यह अनन्तानुबंधी से कम कठोर है, प्रत्याख्यानावरण मान काठ की तरह कठोर बताया गया है। संज्वलन मान हरे पतले बांस की तरह याने बेंत की तरह कठोर याने जल्द नम्र होने वाला बताया गया है। यह सब मानकषाय विकारभाव है, विरूद्धभाव है।

मानकषाय की अनात्मरूपता- यह मानकषाय मान नामक कर्मप्रकृतियों के उदय होने पर व उदीरणा होने पर प्रकट होता है। ये दोनों द्वेषरूप परिणाम हैं। क्रोध तो प्रकट द्वेषरूप है और मान भी इसलिए द्वेषरूप है कि अन्य जीवों को तुच्छ माने बिना मानकषाय का परिणाम नहीं बनता। मैं मानकषायरूप भी नहीं हूं।

विकार की दुष्प्रकृति व अनात्मरूपता- यह विकारभाव है, औपाधिक हैं, क्लेशकारी है। खुद की चीज खुद के विनाश के लिए नहीं हुआ करती है। जो खुद के मिटाने के लिए हो, समझो कि वह खुद की चीज नहीं है और साथ ही यह भी जानो

कि पर की चीज भी अपना विनाश करने में समर्थ नहीं होती है। यह विकार एक ऐसा झमेला है कि जिसे न पर की चीज कह सकते है, न निज की चीज कह सकते हैं। तभी यह निर्णय होता है कि यह परपदार्थ का निमित्त पाकर होने वाला निज में एक विकार है। वह विकार किसकी आज्ञा में चले- उपादान की आज्ञा में चले या निमित्त की आज्ञा में? विकार बड़ा कृतघ्न है। यहां विकार को आश्रय, आधार, स्थान तो दिया है जीव ने, किन्तु यह हुकुम मानता है निमित्त का। निमित्त का उदय होने पर यह प्रकट होता है। उसके निमित्त का अभाव होने पर यह रंज में घुल घुलकर अपनी जान खो देता है। ऐसा यह निमित्त के प्रति कृतज्ञ बन रहा है विकारभाव और जिसने अपना स्थान दिया है, महल दिया है रहने के लिए- ऐसे इस आत्मा का यह हुकुम नहीं मानता। यह कषायभाव विकारभाव है। इस रूप मैं कैसे हो सकता हूं?

माया की मलिनता- मायाकषाय छल कपट करने को कहते हैं। माया की गंदगी कहां तक बतायी जाय? माया से ग्रस्त हृदय में धर्म का रंच प्रवेश नहीं होता है। यों तो क्रोधग्रस्त, मानग्रस्त पुरूषों में भी धर्म का प्रवेश नहीं होता है, किन्तु वहां इतना अवकाश तो है कि जब तक क्रोध की ज्वाला है तब तक धर्म की ओर दृष्टि नहीं होती है, पर वह ज्वाला शांत तो होगी। फिर बन जाय यह दूसरी बात है। ऐसी ही मान की बात है। मानकषाय आ गया कोई मौका पाकर, सभा में, पंचों में, किसी वातावरण में हो गया, पर उस ऐंठ को यह रात दिन जोते तो नहीं रहता, दूर हो जाता है व तब अवकाश मिलता है धर्मदृष्टि का, किन्तु मायाचार के संस्कारी पुरुष में तो रात दिन मलिनता बनी रहती है। वहां धर्मदृष्टि के लिए अवकाश नहीं मिल पाता है। यही कारण है कि मायाकषाय को शल्य में गिनाया है। शल्य में तीन कषायें नहीं बतायी हैं। जैसे माला के दाने में टेढ़ा छेद हो तो वहां सूत प्रवेश नहीं कर सकता, यों ही माया से जिसका हृदय टेढ़ा हो गया है, उस हृदय में धर्म का सूत नहीं पिरोया जा सकता।

मायाचारों की अनात्मरूपता- मायाचार की डिग्रियों के उपदेश में टेढ़ी चीज का उदाहरण लिया गया है। अनन्तानुबंधी माया बांस की जड़ की तरह है। जैसे बांस की जड़ बहुत टेढ़ी मेढ़ी होती है, इसी प्रकार अधिक टेढ़ा भाव होता है अनन्तानुबंधी माया में। सो जैसे बैल चलता जाए और मूतता जाए तो उसके मूत्र की रेखा कितनी टेढ़ी रहती है, जमीन पर देखा होगा। ऐसा ही वक्र हृदय रहता है अप्रत्याख्यान माया में और जैसे मेढ़ा के सींग गऊमूत्र से कम टेढ़ी होती हैं- ऐसे ही प्रत्याख्यान माया कम टेढ़ी हुआ करती है। खेत जोतने वाला हल बहुत कम जगह टेढ़ा रहता है। कहीं थोड़ा कम टेढ़ा हो गया, फिर आगे बहुत दूर तक बिल्कुल सीधा जाता है। ऐसे ही कम टेढ़ी होती है संज्वलन माया। ऐसे वक्रभाव होना मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं मायारूप नहीं हूं।

लोभकषाय की अनात्मरूपता- लोभकषाय को रंग की उपमा दी गयी है। जो अधिक लोभी होता है उसको लोभ कहते हैं कि यहां और का रंग न जमेगा, यह पक्का रंग है, यह रंग भी अनेक प्रकार से दृढ़ और अदृढ़ रहा करता है। सबसे अधिक रंग चक्के के ऊँगम का बताया गया है। बैलगाड़ी में जो चक्का लगाते हैं, उसमें तैल डाला जाता है तो वह तैल उसमें घिसता रहता है। वहां उस घिसे हुए लोहे का रंग कपड़े पर लग जाए तो कपड़ा चाहे फट जाए, पर रंग नहीं छूटता। ऐसा ही रंग अनन्तानुबंधी लोभ का है। भव-भव तक साथ जाता है। पहिले समय में महिलाएं धोतियां मजीठ के जिस रंग से रंगती थीं, वह रंग चक्रमल से कुछ कम गहरा होता है, फिर भी बहुत गहरा होता है, यों ही अप्रत्याख्यानावरण लोभ है। इससे और हल्का रंग मान लो हल्दी का रंग, यह बहुत थोड़े समय तक रहता है- ऐसे ही होता है प्रत्याख्यानावरण लोभ। जैसे टेसू के फूल का रंग होता है, होली के समय लोग एक दूसरे पर डालते है यह बहुत हल्का रंग है, जरासी धूप में उड़ जाता है- ऐसा ही लोभ होता है संज्वलन में। यह आत्मा समस्त परद्रव्यों से अत्यन्त विविक्त है, स्वरूपास्तित्त्वमात्र है, किन्तु इन परपदार्थों की ओर जो इसका उपयोग छुपा है, आकर्षण होता है, यह एक अनहोनी सी बात है। ऐसा विरूद्ध आचरण मेरा स्वरूप नहीं है। मैं लोभरहित हूं।

विभावविविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र की प्रतीति- इस प्रकार यह परमार्थप्रतिक्रमण का उपासक ज्ञानीसंत अपने को कषायरहित तक रहा है और कषायरहित तके, इतने तक ही उसकी अनुभूति नहीं चल रही है, किन्तु कषायरहित भी मैं नहीं हूं। कषाय और अकषाय इन दोनों स्थितियों से विवक्त केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं- ऐसी प्रतीति कर रहा है।

आत्मस्वरूप में कषायभावों का अभाव- यह मैं चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किसी भी कषायरूप नहीं हूं। यह तो आबालगोपाल में भी प्राय: प्रसिद्ध है, किन्तु मैं इन विभावों का कर्ता भी नहीं हूं। ये क्रोधादिक विभाव योग्य निमित्तभूत द्रव्यकर्म के विपाक का सन्निधान पाकर योग्य योग उपयोग की परिस्थिति वाले इस उपादान में वे विभाव अविर्भूत होते हैं। मैं इनका कर्ता नहीं हूं। इसी प्रकार मैं इनका कराने वाला भी नहीं हूं और न इनके करते हुए तत्त्वों का अनुमोदक हूं। इस प्रकार मैं चित्स्वभाव उक्त सकल पद्धतियों में इन कषायविभावों से विविक्त हूं।

आत्मा की कृति के सम्बन्ध में विधि निषेध की सन्धि-यहां तक अपने अन्तस्तत्त्व में विभावव्यन्जनपर्यायरूपता का अभाव, नाना स्थानों का अभाव, बाल्यादिक देहों की अवस्थावों का अभाव, रागादिक विकारों का अभाव और अबुद्धिगत भी समस्त विकारों का अभाव बताया गया है, साथ ही यह भी बताया गया है कि मैं इन परतत्त्वों का अथवा परभावों का कर्ता नहीं हूं, कारयिता नहीं हूं और इनके करने वालों का अनुमोदक भी नहीं हूं। इतना निर्णय कर चुकने के बाद अब इसके उपसंहाररूप में यह बता रहे हैं कि यदि मैं नाना विकल्पोंकरि भरे हुए नाना भेदों से भिन्न रूप हुए विभावपर्यायों का, कषायादिक समस्त परतत्त्वों परभावों का कर्ता नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और उनके करने वाले अर्थात् उनके निमित्तभूत पुद्गलकर्मों का अथवा साक्षात् उपादानभूत पुद्गलस्कंधों का मैं अनुमोदक भी नहीं हूं तो फिर मैं क्या किया करता हूं।

नारकपर्याय का अकर्तृत्त्व व चित्तत्त्व का सन्चिंतन- ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुष आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में चिंतन कर रहा हैं कि मैं नारकपर्याय को नहीं करता हूं, किंतु सहजचैतन्यविलासात्मक ज्ञानदर्शनादिक गुणों के स्वत: सिद्ध अगुरूलघुत्व गुण के कारण शुद्ध अर्थपर्यायभूत अपने आत्मा को ही सचेत रहा हूं अथवा सहजअनन्तचतुष्टय के विलासरूप अन्तस्तत्त्व को अनुभव करता हूं। करने का तो कहीं नाम भी नहीं है, करना शब्द तो एक व्यवहार और उपचार का प्रदर्शन करने के लिए है। प्रत्येक पदार्थ हैं और परिणमते हैं। जीव और पुद्गल निमित्त पाकर विभावरूप परिणमते है, अन्य पदार्थ सदा स्वभावरूप परिणमते हैं, निमित्त के अभाव में जीव और पुद्गल स्वभावरूप परिणमते है। कैसा भी कोई परिणमे, होने का तो काम है, पर करने का क्या काम है? इसी होने को व्यवहारभाषा में अथवा भेदबुद्धि में अपने आपका परिणमन करता है- यों कहा जाता है। मैं नारकादिक पर्यायों को नहीं करता हूं, किन्तु सहजचैतन्यविलासात्मक अपने आत्मा को अनुभव रहा हूं।

तिर्यश्चपर्याय का अकर्तृत्त्व व चित्तत्त्व का सन्चिंतनन- मैं तिर्यश्चपर्याय को भी नहीं करता हूं। पशु-पक्षी, कीड़े-मकौड़े, वृक्ष आदिक तिर्यंचगति के जीवों के देह- ये तिर्यंचपर्याय कहलाते हैं। मैं इनका भी करने वाला नहीं हूं। ये असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं। जीव और कर्म तथा आहारवर्गणा के संयोग से प्रकट होने वाली मायामय अवस्था है। सभी गतियों की ऐसी ही मायामय अवस्था है। मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता हूं, किन्तु सहजचिद्विलासस्वरूप निजात्मा को चेत रहा हूं।

मनुष्यपर्याय का अकर्तृत्त्व का चित्तत्त्व का संचेतन- मैं इस मनुष्यपर्याय को भी नहीं करता हूं। यह जीव है और ऐसे मनुष्यपर्याय में यह पड़ा हुआ है। इसका निमित्त पाकर इस मनुष्यदेह में वृद्धि, हानि आदिक अवस्थाएँ होती है। होती है तो होती रहो, किन्तु मैं केवल अपने परिणामों को ही करता हूं और इससे भी अन्तर में प्रवेश करके निरखें तो यह मैं सहज चैतन्यविलासात्मक स्वतत्त्व को ही करता हूं। करता क्या हूं? अनुभवता हूं, चेत रहा हूं।

देवपर्याय का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचेतन- मैं देवपर्याय का कर्ता भी नहीं हूं। उत्कृष्ट वैक्रियकवर्गणावों का जो एक देहरूप में जमाव है जो कि आत्मा के सन्निधान का निमित्त पाकर हो रहा है, धातु उपधातु से रहित, मल-मूत्र-खून-हड्डीरहित, विशिष्ट प्रकार के वैक्रियकवर्गणावों के पिण्डरूप और असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप इस देवपर्याय को भी मैं नहीं करता हूं, किन्तु स्वत:सिद्ध सहज चैतन्यस्वभाव के निजतत्त्व को चेत रहा हूं।

मागणास्थानों का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचिन्तन- इस संसारी जीव के प्रसंग में और संसार अवस्था मिटने के प्रकरण में ये मार्गणास्थान हुआ करते हैं। वे संसारी जनों के प्रसंग में ये नाना मार्गणास्थान हैं व मुक्त होने की स्थिति में प्रत्येक मार्गणा में एक-एक विशुद्ध स्थान है। ये होते हैं निमित्त के सद्भाव और अभाव में, किन्तु यह मैं सनातन शाश्वत प्रकाशमान् चित्स्वभाव उन मार्गणास्थानों को नहीं करता हूं, किन्तु स्वत:सिद्ध सहज चैतन्यविलासात्मक ज्ञायकस्वभाव को ही अनुभव रहा हूं।

अनुभूति की उपयोगानुसारिता- देखिये बंधन और व्यवहार में कैसी भी परिस्थिति हो (इस जीव की बात कह रहे है), किन्तु उपयोग जिस तत्त्व को ग्रहण किए हुए हो उसही का यह स्वाद लिया करता है। जैसे कोई पुरुष बाहर से कितने ही आराम से हो, भोजन की सुविधा है, काम भी कुछ करना नहीं पड़ता है, आराम से भोजन मिलता है, सब तरह के आराम हों; किन्तु उपयोग में कोई इष्टवियोग का क्लेश बसा हो या निदान का परिणाम सता रहे हो तो वह क्लेश का ही स्वाद लेगा, आराम का स्वाद न लेगा। यों ही कोई ज्ञानीसंत पुरुष बड़ी विपत्तियों में पड़ा हो, शत्रु सताते हों, क्रूर जानवर सिंहादि सता रहे हों, अपमान की बौछारें आ रही हों, कैसी भी भयंकर विपत्तियां हों, किन्तु ज्ञानीसंत का उपयोग निजसहज चिदानन्दस्वरूप निजतत्त्व के अवलोकन में है। तो वह ऐसी विपत्तियों की स्थिति में पड़ा हुआ भी अन्तर में विशुद्ध आनन्द का अनुभव कर रहा है। ऐसे ही यह ज्ञानीपुरुष इस मनुष्यपर्याय में रहते हुए भी इस पर्याय को दृष्टि से ओझल करके शुद्ध चैतन्यस्वरूपात्मक निजतत्त्व को चेत रहा है।

गुणस्थानों का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचिन्तन- यह मैं मिथ्यादृष्टि आदि अयोगकेवलीपर्यंत 14 प्रकार के गुणस्थानों का भी कर्ता नहीं हूं। यह मैं अनादिअनन्त स्वतःसिद्ध अहेतुकशाश्वत अन्तःप्रकाशमान् चैतन्यमहाप्रभु हूं। ये विविधिताएं हैं किसकी? यह मैं तो सहज चैतन्यविलासात्मक निजअन्तस्तत्त्व का ही अनुभव कर रहा हूं। श्रद्धा और चारित्रगुण के विकारों और अविकारों की अवस्था इस मुझ अंतस्तत्त्व में नहीं है। यह मैं शुद्ध विधिरूप हूं। मैं किसी भी गुणस्थान को नहीं करता हूं, किन्तु एक ज्ञानस्वरूप को ही चेत रहा हूं।

जीवस्थानों का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचिन्तन- बहुत स्पष्ट दिखने में आने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त, ऐसे इन सब जीवस्थानों को भी मैं नहीं करता हूं। यह मैं तो एक चित्स्वभाव हूं, केवल सहज चैतन्यविलासात्मक निजतत्त्व को चेत रहा हूं- ऐसा चिंतन करता हुआ यह ज्ञानीपुरुष विशुद्ध अनाकुलता का अनुभव कर रहा है। जैसे मिश्री खाने वाला पुरुष जब-जब मिश्री का चिंतन करता है अथवा दूसरे के मुख से मिश्री की महिमा सुनता है तो उसे बिल्कुल फिट बैठ जाता है कि हां यह बात बिल्कुल ठीक है। इसी तरह इस ज्ञायकस्वरूप के संचेतन की बात इस ज्ञानी पुरुष के अन्तर में बिल्कुल सही बैठती जाती है कि मैं किन्हीं भी परभावों को, परपर्यायों को नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्यविलासात्मक निजअंतस्तत्त्व को चेत रहा हूं।

बाल्यादिक देहावस्थावों का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचेतन- इस शरीर में बालक, जवानी, बुढ़ापा आदिक अवस्थावों के अनेक भेद हैं। अनेक परिस्थितियोंरूप यह देह रहा करता है, इस देहस्थानरूप मैं नहीं हूं और न मैं इस देहस्थान का करने वाला हूं। यह मनुष्य क्या यह चाहता है कि मैं बूढ़ा बन जाऊँ, तो इस बुढ़ापे को क्या यह जीव करता है? जैसे यह बुढ़ापे को नहीं करता, इसी तरह यह जवानी व बचपन को भी नहीं करता है। ये असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप प्रकट शरीर इन अवस्थावों को धारण कर रहे हैं, मैं उन्हें भी नहीं करता हूं, मैं तो सहजचैतन्यविलासस्वरूप इस निज ज्ञाता को ही अनुभव कर रहा हूं।

रागादिक विकारों का अकर्तृत्व व चित्तत्त्व का संचेतन- आभ्यंतर में ये रागादिक विकार हो रहे हैं। क्या हो रहे हैं, कैसे हो रहे हैं? इन सब बातों का सिद्धान्त सुदृढ़ है। ये होते हैं ये विकाररूप भाव हैं, उपाधि का सन्निधान पाकर होते हैं लेकिन ये तो इस स्वभाव दृष्टि में करने वाले मुझको यों नजर आ रहे हैं जैसे पानी के ऊपर तैल व्यापक है। पानी उस तैल से निर्लेप है, ऐसी ही शक्ति व्यक्ति का अन्तर डालकर जहां भी मैं देख रहा हूं कि ये रागादिक विकार मेरे ऊपर तैर रहे हैं, किन्तु ये स्वभावरूप नहीं बन सकते हैं। मैं चित्स्वभावमात्र हूं। मैं इन रागादिक विकारों को नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्यविलासात्मक निज आत्मतत्त्व को अनुभव रहा हूं।

कषायभावों का अकर्तृत्व व अन्तस्तत्त्व का संचेतन- इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभरूप से विभिन्न इन भावकर्मोंरूप विषयों को भी मैं नहीं करता हूं। ये हो जाते हैं। जैसे रसोई घर में रोटी बनती है तो रोटी बनाने वाली महिला का हाथ चल रहा है, आग भी धधक रही है, तवा भी गरम हो रहा है और रोटियां भी सिक कर परिपक्व बन रही हैं, ऐसी स्थिति में हम उसे रोटी का करने वाली कैसे कहें? यह भी एक पक्ष में निर्णय नहीं कर सकते हैं। उस महिला ने रोटी नहीं की क्योंकि उसका हाथ पृथक् है, रोटी पृथक् चीज है पृथक् वस्तु में पृथक् वस्तु की कोई करतूत नहीं चला सकती। यों ही आग अलग है, तवा

अलग है रोटी अलग है, किसने परिपक्व किया? तो यह कहें कि इन सबका निमित्त पाकर रोटी ने रोटी को कर दिया। खुद ने खुद को कर दिया, इसका क्या अर्थ है? यहां तो सर्वत्र होना ही होना नजर आ रहा है, करना तो कुछ नजर आता ही नहीं है। किसी के सन्निधान में, निमित्त में, प्रसंग में जो जब होना है सो हो रहा है। मैं इस कषाय भाव को नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्य विलासात्मक निज आत्मतत्त्व का संचेतन कर रहा हूं, आत्मा को चेत रहा हूं।

परमार्थप्रतिक्रमण का अन्तःपुरूषार्थ- इस प्रकार परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार के प्रारम्भ में कहे हुए पंचरत्नों स्वरूप कथन में इस आत्मतत्त्व को समस्त विभाव पर्यायों से विभिन्न देखा गया है और यह ज्ञानी पुरुष उन पर और परभावों से कैसे दूर हो जाय? इसका विधान बताया गया है। इस प्रकार इन सब पर और परभावों से हटकर निजअंतस्तत्त्व का जो आश्रय करता है वही पुरुष परमार्थ प्रतिक्रमण कर रहा है। इस ज्ञानीपुरुष ने समस्त विषयों के ग्रहण करने की चिंता त्याग दी है। यह किसी भी विषय को अब ग्रहण नहीं करना चाहता। इस ज्ञानी पुरुष ने निज द्रव्यगुण पर्याय के स्वरूप में अपना यथार्थ प्रकाश पाया है, ऐसा यह ज्ञानीसंत जो सकल परिणतियों से विविक्त शाश्वत अन्तःप्रकाशमान् चित्स्वरूप का अवलोकन कर रहा है, उसका ही आश्रय और अवलम्बन कर रहा है। वह परमार्थप्रतिक्रमण के बल से समस्त विकारों को शुद्ध करके अर्थात् समस्त विकारों को दूर करके अपने आत्मा में विशुद्ध चित्प्रकाशमात्र अनुभवता है और इस कैवल्य के अवलम्बन से कैवल्य अवस्था को प्राप्त करता है, अर्थात् संसार के समस्त संकटों से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

धर्मपालन के लिए आन्तरिक निर्णय- भैया ! धर्मपालन के लिए एक निर्णय रखिये। उपाय तो अनेक सम्भव हैं लेकिन उन सब उपायों से गुजर कर अपने सहज स्वरूप की पहिचान की जाय इस पर ही धर्म अवलम्बित है। अपने आपको सर्वसकटों से पार कर देने वाले इस धर्मस्वभावरूप अपने आपको दृष्टि में लेकर सर्वचिंतावों को तजकर, सर्वविषयों का ग्रहण तजकर निर्विकल्प परमविश्रामरूप अपने आपको अनुभवना चाहिए, यही सर्वदुःखों से छूटने का विशुद्ध परिणाम है।

गाथा ८२

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि।।८२।।

प्रतिक्रमणादिक के व्याख्यान का संकल्प- इस अधिकार के पहिले ५ गाथावों में जो वास्तविकता बतायी गयी है उसका परिज्ञान होने के कारण जब इस आत्मा को भेदविज्ञान का अभ्यास हो जाता है तब यह भेदविज्ञानी जीव मध्यस्थ होता है अर्थात् न राग की ओर इसका झुकाव रहता है न द्वेष की ओर झुकाव रहता है। राग और द्वेष दोनों से परे होकर यह मात्र ज्ञाता रह जाता है। केवल ज्ञाता रह जाने की स्थिति हो जाने का नाम चारित्र है। इस ही चारित्र से संसार के समस्त संकट दूर होते हैं। अतः कल्याण के अर्थ इस चारित्र का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। उसही चारित्र के दृढ़ करने के निमित्त अब प्रतिक्रमण आदिक को कहेंगे।

महत्त्वपूर्ण योजना की भूमिका में सर्वस्वदर्शन- जब बहुत बडी़ योजना अपनी होती है, बहुत प्रायोजनिक मार्मिक महत्त्पूर्ण प्रस्ताव रखने को होता है तो उससे पहिले ऐसी भूमिका कहनी पड़ती है कि उस प्रस्ताव का समस्त रहस्य दे दें। श्रोतावों के चित्त में उस प्रस्ताव का समर्थन हो जाना यह सब पहिले ही हो चुकता है आंतरिक आशय द्वारा, फिर प्रस्ताव को बताने में और उसको पास कराने में अधिक समय नहीं लगता है। यों ही मानो इस परमार्थप्रतिक्रमण के महान् पुरूषार्थ के विवरण में महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रमण से पहिले जो पंचरत्नों में भूमिका मानी गयी है, परिज्ञान कराया गया है उसको ही सुनकर श्रोतावों ने इस प्रतिक्रमण का हार्दिक समर्थन कर दिया है। अब उस पंचरत्नमयी भूमिका के बाद अथवा परमार्थप्रतिक्रमण का जो प्राणभूत परिज्ञान है उस परिज्ञान के प्रतिपादन के बाद अब आचार्यदेव कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण आदिक को कहेंगे।

प्रतिक्रमण का प्रयोजन- प्रतिक्रमण की आवश्यकता निर्दोष चारित्र की सिद्धि के लिए है। निर्दोष चारित्र की सिद्धि समस्त आकुलतावों के मिटाने के लिए है। समस्त आकुलतावों का मिट जाना इस जीव का ध्येय है, मंतव्य है, लक्ष्य है। चाहते यह

हैं समस्त जीव लोक की रंच भी पीड़ा न रहे। अनाकुलता की स्थिति कैसे आये? उसके उपाय में यह चारित्रशोधक परमार्थप्रतिक्रमण का वर्णन चल रहा है।

हितमार्ग में स्वरूपावगमरूप मौलिक उपाय- चारित्र कहिए या मध्यस्थ होना कहिए, करीब-करीब एकार्थक बात है। रागद्वेष से परे होकर केवल ज्ञातादृष्टा रहने को मध्यस्थ कहते हैं। मध्यस्थ कहिए अथवा तटस्थ कहिए, यहां तक कुछ-कुछ प्राय: एकार्थक बात है। लेकिन सूक्ष्मता से देखा जाय तो पहिले कभी तटस्थ हो जाते हैं पश्चात् मध्यस्थ हो जाते हैं और कभी पहिले मध्यस्थ हो जाते हैं, पश्चात् तटस्थ हो जाते हैं, किन्तु सबसे उत्कृष्ट अवस्था इस मध्यस्थ और तटस्थ होने से ऊपर की है। उस अवस्था का कारण है मध्यस्थ होना और मध्यस्थ होने का उपाय है भेदविज्ञान के उपयोग में स्थित रहना। भेदविज्ञान के उपयोग में स्थित रहने का साधन है उस भेदभावना का अभ्यास दृढ़ करना। भेदभावना के अभ्यास को दृढ़ करने का कारण है वस्तुस्वरूप का यथार्थ-यथार्थ परिज्ञान होना। जब वस्तु का स्वत:सिद्ध स्वरूपास्तित्वमात्र लक्षण जान लिया जाता है तो वहां भेद विशद दृष्ट हुआ करता है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिचय पाने के लिए ज्ञानाभ्यास करना होगा।

प्रायोजनिक स्वरूपावगम का संकेत- हम द्रव्य गुण पर्याय के विस्तार में वस्तु को पहिले जानें तब यह भेद विज्ञात होता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायों से उत्पन्न होता हुआ अपनी-अपनी पर्यायों में ही उस काल में तन्मय रहा करता है। वह पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन हो जाती है और पुरानी-पुरानी पर्याय उस वस्तु में विलीन हो जाती है। उस समस्त पर्यायों का आधारभूत, जितने भी किस्म के पर्याय हैं उतने ही पदार्थों में गुण होते हैं। ये गुण पदार्थ की शक्तियां हैं और जैसे कि पदार्थ अनादि अनन्त हैं ऐसे ही यह शक्तियां भी अनादि अनन्त है। उन समस्त शक्तियों का जो पुन्ज है वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक सत् अपने ही द्रव्य गुण पर्याय में तन्मय है, अन्य सबके द्रव्य गुण पर्याय से अत्यन्त विविक्त है, ऐसा उन समस्त पदार्थों का सामान्यतया परिचय पाने पर और असाधारण लक्षण निरखकर, उन शक्तियों को निरखकर विशिष्ट परिचय पाने पर भेदविज्ञान होता है। भेदविज्ञान के पश्चात् उस विशिष्ट परिचय को भी समाप्त करना होता है। साधारण स्वरूप में अर्थात् मध्यस्थ होकर स्वत:सिद्ध होने वाले अपने आपके ज्ञातृत्वरूप स्व में स्थित होने को निश्चय चारित्र कहते हैं। इस कल्याण प्राप्ति के लिए हमें यथार्थ ज्ञानाभ्यास की महती आवश्यकता है।

दुर्लभ मनुष्यभव में सावधानी का अनुरोध- वर्तमान में मनुष्यभव पाया, धन सम्पदा भी यथायोग्य पायी जिसमें किसी भी प्रकार की चिंता भी नहीं है। यों तो चिंता करने के लिए अपनी तृष्णा बढ़ाते जावो तो चिंतावों की कभी सीमा नहीं आ सकती। पर जितने से अपने प्राण रह सकते हैं और प्राण रहने पर अपने धर्म के लिए हम समर्थ रह सकते है, इतने साधन प्राय: सबने पाये हैं और प्रतिभा ज्ञान भी सबने पाया है। जिस बुद्धि में इतनी सामर्थ्य है कि इतना बड़ा व्यापार कर ले, आय बना ले, हिसाब रख ले अथवा सामाजिक राष्ट्रीय अनेक प्रोग्राम बना सकें, विवाद हल कर सकें, क्या उस बुद्धि में यह सामर्थ्य नहीं है कि स्व पर का यथार्थ परिज्ञान प्राप्त कर ले। बुद्धि भी खूब है, इन्द्रियां भी समर्थ हैं, सारी योग्यताएँ ठीक हैं, धार्मिक प्रोग्राम भी मिले हुए है इतना सब कुछ मिल जाने के बाद भी यदि विषयों की ही लिप्सा रही, इस मायामयी दुनिया में अपना नाम जाहिर करने की ही मंशा रही, अपने आपके इस पर्याय को लोक में प्रसिद्ध करने का ही आशय रहा तो समझ लीजिए कि वही गति है कि बहुत ऊँचे चढ़कर थोड़ी असावधानी से एकदम नीचे गिर जाना है।

कृपाकारी पर अन्याय के फल पर एक दृष्टान्त- एक साधु महाराज थे। उनके पास एक चूहा बैठा था, उस पर बिल्ली झपटने को हुई तो दयावश साधु ने उस चूहे को आशीर्वाद दिया कि तू भी बिलाव बन जा। वह बिलाव बन गया। अब उसे बिलाव का डर नहीं रहा। लो उस पर थोड़ी देर में कुत्ता झपटा तो आशीर्वाद दिया कि तू भी कुत्ता हो जा। कुत्ता बन गया। अब उस पर झपटा नाहर, तेंदुवा, तो उसने फिर आशीर्वाद दिया कि तू भी नाहर बन जा। बन गया नाहर। इसके बाद उस पर झपटा सिंह। साधु ने कहा कि तू भी शेर बन जा। बन गया सिंह। देखो चूहा से शेर बन गया। अब इस सिंह को लगी भूख, सिंह उस साधु पर झपटने की सोच चुका, इतने में साधु ने आशीर्वाद दिया कि तू फिर से चूहा बन जा। इतना बड़ा सिंह बन जाने के बाद एकदम चूहा बनना पड़ा और जो क्लेश था, जो बात थी वह सब आ गयी।

आत्मदेव पर अन्याय करने का फल- इसी प्रकार हम आप जरा व्यापक दृष्टि डालें। कभी निगोद अवस्था में थे, एक श्वास में १८ बार जन्म मरण लेना पड़ता था, बड़ी कठिनाई उस जीवन में रही। इस आत्मदेव का कुछ प्रसाद मिला, कुछ निर्मलता

हुई, कुछ विशुद्धि बनी कि निगोद अवस्था से निकला और अन्य स्थावरों में आया और विशुद्धि हुई तो त्रस पर्याय में आया। उसमें भी संज्ञीपंचेन्द्रिय और उसमें भी मनुष्य हो गये। इन्द्रिय, मन, बुद्धिबल सब कुछ विशिष्ट हो गया। एक निगोद अवस्था से निकलकर ऐसे बलिष्ट मनुष्यभव को प्राप्त कर लिया, अब मनुष्य होकर यह अपनी विद्या का, बल का उपयोग करने लगा कषाय साधनों में, लड़ाई झगड़ों में। इन्द्रिय के विषय का कितना बड़ा विस्तार हो गया और मन के विषय का तो और भी अधिक विस्तार हो गया। अब विषयसाधन करके इसने अपने आत्मदेव पर हमला किया है। जिस आत्मदेव के प्रसाद से यह निगोद अवस्था से निकलकर आज मनुष्यपर्याय की उत्कृष्ट स्थिति में आया है। अब यह उस ही आत्मदेव पर आक्रमण कर रहा है। विषयों में भ्रमण कर अपने आपको भूल रहा है। ऐसे आक्रमण के समय में म्लान हुआ यह आत्मदेव भीतर से यह आशीर्वाद दे रहा है कि तू फिर से निगोद बन जा लो अब जिस गर्त से उठे थे उसी गर्त में फिर गिर गये।

मोहपरित्याग में ही कल्याण- भैया ! ऐसी उत्कृष्ट स्थिति पाने पर अब तो कुछ विवेक उपयोग में लाना चाहिए। सबसे विविक्त केवलज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपके प्रभु को तो निरखिये, झूठे मोह में क्या रक्खा है और वह मोह भी आखिर छोड़ना पड़ेगा। मोह तो न छूटेगा पर मोह में जो विषय बनाया है उसे छोड़ना पड़ेगा। मोह तो ज्ञानबल से ही छूटेगा। थोड़े दिनों का जो समागम मिला है, जो कुछ असार पदार्थों की परिस्थिति मिली है उसमें मुग्ध हो जाना, इससे बढ़कर मूढ़ता और क्या हो सकती है? ये मोही लोग किसी प्रकार धन को जोड़ लेने में अपनी चतुराई समझते हैं या किसी प्रकार देश में, गोष्ठी में अपनी कुछ पैठ बना लेने में अपनी चतुराई समझते हैं, किन्तु वह क्या चतुराई है जिसके बाद फिर क्लेश का सामना करना पड़ेगा, वह कौनसी भली परिस्थिति है? बुद्धिमानी तो यह है कि इस भव से निकल जाने से ही पहिले हम भविष्य का सब कुछ भला निर्णय बना लें। यह सब कुछ होगा मोह छोड़ने के कारण।

कार्यसफलता की योग्य विधि पर एक दृष्टान्त-भैया ! धर्मपालन जिस पद्धति से, जिस मूल उपाय से होता है उसही मूल उपाय को किया जाय तो होगा अन्यथा न होगा। एक रानी का बाग था, उसका सारा प्रबंध रखना उसके ही हाथ था। वह एक बार बीमार हो गयी तो अपने लड़के से कहती है रानी कि देखो उस बगीचे की खूब सेवा करना, उस बगीचे को खूब सींचना, बग़ीचा खूब हरा भरा साफ रहे। उस लड़के ने बाग़ की खूब सेवा की। सेवा तो बहुत की, लेकिन कुछ ही दिनों में वह बाग सूख गया। रानी स्वस्थ हो गयी और बाग देखने गयी तो देखा कि सारा बाग सूख गया। रानी को बड़ा विषाद हुआ। लड़के को बुलाया और पूछा कि बेटा यह बाग कैसे सूख गया? क्या तुमने इसकी सेवा नहीं की? लड़का बोला मां ! मैंने तो अथक परिश्रम किया। कोई पत्ता धूल भरा भी नहीं रह सका। खूब सींचा, डाली-डाली सींची, पत्ते-पत्ते में पानी डाला। तो बेटा तुमने जड़ों में पानी डाला कि नहीं? मां ! यह तो नहीं कर पाया। तो पत्तियों के धोने से, डाली-डाली सींचने से तो बाग सूख जायेगा ही। उन पत्तियों को साफ न करे, उन डालियों में पानी न डाले और बराबर जड़ों को ही पानी देता रहे तो वह बाग़ हरा भरा बना रहेगा, सूखेगा नहीं।

आत्मविकास की मूल विधि- ऐसे ही जानो भैया ! कि यह आत्मा के गुणों का बाग़ हरा भरा कैसे रह सकता है? इसका उपाय तो दोष रहित शुद्धज्ञानप्रकाशमात्र स्वतत्त्व को निरखना, यही है इस बाग की मूल को सींचना। इस परमार्थ परमपारिणामिकभावरूप पंचमगति का कारणभूत सहजस्वभाव का अवलोकन, आलम्बन, आश्रयरूप चिंतन, मन, वचन, काय की क्रियाएँ, विकल्प, हाथ पैर पीटना, शरीर को बड़ा धोना, साफ करना, छुवाछूत का भारी पालन करना, बहुत-बहुत भी ऐसे बाह्य काम कर लिए जायें तो ये सब मूल सिंचन के बिना पत्तियों और डालियों को धोने की तरह हैं। ऐसे बाह्य क्रियाकाण्ड करके भी इस आत्मा के गुणों का विकास नहीं हो सकता है, यह आत्मउपवन हराभरा नहीं रह सकता। यहां परमार्थप्रतिक्रमण के प्रसंग में ऐसा ही उपाय कराया जा रहा है जिस उपाय के प्रसाद से यह आत्मबाग सर्वदोषों से रहित होकर शुद्ध विकासरूप बन जाय, हराभरा बन जाय अर्थात् आनन्द ही आनन्द बरस जाय। ऐसे उपाय में सर्वप्रथम यह बतला रहे हैं कि हे कल्याणार्थी पुरूषों ! प्रत्येक वस्तु का जैसा यथार्थस्वरूप है तैसा पहिले जानो और परिज्ञान से स्वपर में भेदविज्ञान बनावो, भेदाभ्यास करो, फिर विकारों को छोड़कर निज तत्त्व के ही दर्शन करो तो आत्मा का शुद्ध विकास हो सकता है।

प्रतिक्रमणव्याख्यान का संकल्प- इस शुद्धविकास की मूल प्रक्रिया स्वरूपाचरण है और यही निष्क्रिय आत्मस्थितिरूप प्रक्रिया प्रगतिशील होकर यथाख्यात व पूर्णपरमचारित्र हो जाता है जिसमें अनन्त सहज परम आनन्द का निरन्तर अनुभवन रहता

है। उस चारित्र की प्राप्ति व अविचल स्थिति के हेतु अब प्रतिक्रमणादि की निश्चय क्रिया बतायी जा रही है। प्रतिक्रमण का अर्थ है अतीत दोषों के परिहार के अर्थ प्रायश्चित्त करना अतीत दोषों का संस्कार न रह सके व अतीत दोषों के कारण उस काल में बद्ध हुए कर्म विफल हो जावें, वे पुन: दोषों के उत्पादनिमित्त न हो सकें ऐसे अन्त:पुरूषार्थ करने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

पावन प्रबल प्रणेता की वचनरचना की महिमा- इस गाथा में यह कहा गया है कि प्रतिक्रमणादिक को कहूंगा। इस आदि शब्द से प्रत्याख्यान आदि का ग्रहण करना चाहिये। यहां तक जिज्ञासा यह हो सकती है कि यह तो प्रतिक्रमण अधिकार है इसमें तो प्रतिक्रमण के ही कहने का संकल्प बताना चाहिये था और जब प्रत्याख्यान अधिकार का प्रारम्भ करते तब प्रत्याख्यान के कहने का संकल्प बताना चाहिये था, ऐसा न करके इसी स्थल में प्रतिक्रमणादिक को कहूंगा, ऐसा क्यों कहा गया है? इसका समाधान यह है कि परमहित नियम का प्रतिपादन करने वाले आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव इस ग्रन्थ में उपयोगी तत्त्ववर्णन करते गये थे। उनका यह तत्त्ववर्णन स्थलानुसार क्रमिक, अध्यात्मदिग्दर्शक धाराप्रवाह चलता गया था। यह अधिक संभव है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता पूज्यपाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पहिले से यह छटनी न की होगी हमें इतने अधिकार इस-इस क्रम से इतनी-इतनी गाथावों में बनाने हैं, उन्होंने तो हित भाव से परमदेशना की है। महापुरूषों की वाणी क्रम अधिकार आदि न सोचे जाने पर भी ऐसी संतुलित, परिमित, उपयोगी क्रमिक हो जाती है कि उनकी रचना के व्याख्याकारों की अधिकारों की छटनी में श्रम नहीं होता। इस तत्त्ववर्णन के स्थल में प्रसंगवश इसी कारण "प्रतिक्रमणादिक कहूंगा" इसमें आदि शब्द दिया गया है। इस आदि शब्द से यह प्रकट होता है कि आगे कहे जाने वाले निश्चय प्रत्याख्यान परम आलोचना, शुद्धनयप्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चयपरमावश्यक का दोषनिवृत्ति से विशिष्ट सम्बन्ध है।

परमार्थप्रतिक्रमण का प्रसाद- परमार्थप्रतिक्रमण में प्रमुख आधार सहज चिद्विलासात्मक आत्मतत्त्व के आलम्बन का है और उसमें उपमुख आधार स्वपरभेदविज्ञान का है। भेदविज्ञान की अपार महिमा है- जितने भी आत्मा परमात्मा हुए हैं वे सब भेदविज्ञान के प्रसाद से सिद्ध हुए हैं तथा जितने भी जीव अब तक बद्ध हैं व सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं, परतन्त्र हैं, जन्ममरणादिक के क्लेश सह रहे हैं। अहो, भेदविज्ञान के प्रकट होने पर सहजानन्दधाम चिद्विलासात्मक सात्मतत्त्व संदृष्ट हो जाता है और तब यह आत्मा भेदाभ्यास से प्राप्त अभेदस्वरूप अन्तस्तत्त्व के आश्रय से पापकलंक से मुक्त होकर पावन हो जाता है। यह सब परमार्थप्रतिक्रमण का परमप्रसाद है। अब इस ही परमार्थप्रतिक्रमण के पात्र का वर्णन है।

गाथा ८३

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किन्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।।८३।।

प्रतिक्रमण के विवरण का संकल्प- वचनरचना को छोड़कर रागादिक भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उस ज्ञानी पुरुष के वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। निश्चयप्रतिक्रमण और व्यवहारप्रतिक्रमण ऐसे प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गये हैं। व्यवहारप्रतिक्रमण तो विधिपूर्वक प्रतिक्रमण पाठ करते हुए अपने आत्मा में उस योग्य विशुद्धि का भाव करना, सो व्यवहारप्रतिक्रमण है। किन्तु निश्चयप्रतिक्रमण क्या है इसको निश्चयप्रतिक्रमण का अधिकारी बताने के माध्यम से इस गाथा में विशेषरूप से बताया गया है।

व्यवहारप्रतिक्रमण व निश्चय प्रतिक्रमण का निर्देशन- प्रथम तो व्यवहारप्रतिक्रमण का ही महत्त्व देखिये। मोक्ष की इच्छा करने वाले, कल्याणार्थी, निष्कपट भाव से व्रत तपस्या संयम में प्रवृत्ति रखने वाले पुरुष जो दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया करते हैं वचनरचनामय प्रभुस्तवन दोषों का मिथ्याकरण दोषों के निवारण की भावना आदि का पाठ किया करते हैं जो कि पाप के क्षयों का कारणभूत हैं, शुभोपयोग हैं, ऐसे सूत्रों का उच्चारण करना यही है व्यवहारप्रतिक्रमण। सुनने में यह भी बड़ा प्रभावशाली प्रोग्राम है मोक्षमार्ग का, फिर भी इस सूत्र में यह बतला रहे हैं कि ऐसे प्रतिक्रमण पाठ के वचनों का परिहार भी जहां हो जाता है और तद्विषयक अन्तरजल्प का भी परिहार हो जाता है वहां रागादिक का निवारण होने से जो शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान बर्तता है उसे कहते हैं निश्चयप्रतिक्रमण। व्यवहारप्रतिक्रमण तो विकल्प

करके किया जाता है किन्तु निश्चयप्रतिक्रमण ज्ञातृत्व के संस्कार से स्वयं हुआ करता हैं। ऐसे इस निश्चयप्रतिक्रमण की बात कही जा रही है।

वैराग्यसुधासिन्धु चन्द्र– निश्चयप्रतिक्रमण जिस पवित्र महापुरुष के होता है उस महापुरुष की कुछ आन्तरिक चर्या को ध्यान में लिए हुए देखिये- यह महात्मा वैराग्यरूपी समुद्र के लिए पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह है। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के अभ्युदय के कारण समुद्र उबलता है, बढ़ता है, इसी प्रकार उसका वैराग्य प्रगतिशील है, बढ़ रहा है। दोषों का परित्याग तो वही करेगा जो विरक्ति में बढ़ रहा है। सहज वैराग्य ही वृद्धिशील हुआ करता है।

बनावटी वैराग्य की विडम्बनायें- बनावटी वैराग्य, बाह्य का परित्याग यह कदाचित् किसी के सत्य वैराग्य का भविष्य में कारण बन जाय तो बने, परन्तु जब वैराग्यमय सहज आत्मतत्त्व का परिचय नहीं है तो बाह्यपरिग्रह के त्याग से बनाये गए वैराग्य में मूल उपाय सुरक्षित नहीं है। सहजज्ञानानन्दभाव के परिचय के बिना जो बाहरी त्याग किए जाते हैं वे कुछ समय तक तो मौज देते हैं, वे भी आत्मीय आनन्द की झलक नहीं देते हैं, लोगों के द्वारा पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मान अथवा अपनी कल्पना में जो धर्म की धुन आयी है उस धुन से अपना दिल बहला लेना, ये सब मौज हुआ करती है, किन्तु कुछ काल के बाद जब इन मौजों से पेट भर जाता है तब लोगों के सम्मान द्वारा की हुई पूजा प्रतिष्ठा को एक रोज के देखने की आदत सी पड़ जाती है तब उसका मौज घट जाता है, अन्य प्रकार की तृष्णायें बनने लगती है और कभी-कभी तो अपने इस परित्याग पर अफसोस भी होने लगता है, चाह होने लगती है, अनेक विडम्बनाएँ हो जाती हैं। जिस पुरुष के मूल में निष्कलंक स्वत:सिद्ध निज सहज ज्ञानस्वभाव का दर्शन नहीं होता है उस पुरुष में वैराग्य की बात यथार्थविधि से निभा लेना, यह कठिन होता है।

परमतपश्चरण और निश्चयप्रतिक्रमण- रागरहित विधि से रागरहित ज्ञानप्रकाश का अवलोकन करना यही है उसका परमतपश्चरण। अपने चैतन्यभाव में अपने उपयोग का प्रतपन करना यही है परमतपश्चरण, जो कर्म की निर्जरा का अमोघ साधन है। ऐसे परम तपश्चरण से परिपूर्ण सहज वैराग्यरूप समुद्र को जो प्रतिक्षण बढ़ाता रहता है ऐसे पूर्णचन्द्र की तरह यह महात्मापुरूष निश्चयप्रतिक्रमण का पात्र होता है।

निश्चयप्रतिक्रमण में वचनरचना का व रागादिक विभाव का परिहार- भैया ! खोटे वचनों से बोलने की तो बात ही क्या कही जाय, उस वचनरचना से तो वह मुक्त ही है, पर प्रतिक्रमणस्वरूप स्वाध्याय आदि समस्त प्रकार की वचनरचनावों का जहां परिहार हो जाता है और अपने प्रति कदम बढ़ाया जाता है सो यही है निश्चयप्रतिक्रमण। आत्मा का आनन्द स्वयमेव है। यह आनन्द के विरूद्ध अपनी कोई विकल्पवृत्ति न बनाए तो यह परमशान्त ही है। अब देखते जाइए कि हमारी चर्या अपनी असली चर्या से कितनी दूर चला करती है? रंच भी रागादिक विकल्प की तरंग नहीं होनी चाहिए और क्या हो रहा है सो अपने आपके अन्दर परख की दृष्टि से घुस कर देख लीजिये। जिसका शुद्ध ज्ञानप्रकाश है वह ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानप्रकाश में रहना चाहिए, ऐसी निस्तरंग ज्ञानमात्र सामान्य परिस्थिति हो वह है वास्तविक पुरूषार्थ और निश्चयप्रतिक्रमण। ऐसी शिवमय परिस्थिति में दोष कहां टिक सकता है? दोष वहां ही टिक सकता है जहां स्वयं की भी कोई आसक्ति हो। जहां प्रतिक्रमणसूत्र के नाना प्रकार की वचनरचना का भी परित्याग हो गया है वहां निश्चयप्रतिक्रमण का अभ्युदय होता है। जहां सर्वप्रकार के रागद्वेष मोह विभाव का निवारण हो जाता है उसही उपयोग भूमि में अखण्ड आनन्दस्वरूप निज कारणपरमात्मत्त्व का ध्यान जगता है।

संसारलता का मूल कंद- ये राग द्वेष मोह संसाररूपी लता को बढ़ाने में मूल कंद की तरह हैं। जैसे लता की जड़ लता की वृद्धि होते रहने में कारण है ऐसे ही हमारे संसारपरिभ्रमण के होते रहने में कारण रागद्वेष मोह भाव है। इस आत्मा पर कितनी गहरी मोहिनी धूल पड़ी हुई है कि जिन भावों के कारण इतना विनाश हो रहा है, इतनी बरबादी हो रही है। वह भाव बड़ा प्रिय लगता है, उनमें ही मन रमा करता है, मौज मानते हैं। कभी अपने को घररहित, कुटुम्बरहित, देहरहित, पोजीशनरहित, सर्वविडम्बनावों से विविक्त केवल ज्ञानमात्र भी अनुभवा जाना चाहिये। यदि अपने को ज्ञानमात्र कभी प्रतीति में नहीं ला सके हैं तो फिर धर्म की क्रियावों का पालन या तो विषयों की प्रीति के लिए है या अपना दिल बहलाने के लिए है। ऐसे पुरुष को अज्ञानी मूढ़ कहा गया है।

धर्मपद्धति का अमोघ फल- भैया ! सिलसिले से पद्धतिवार कोई धर्म का पालन करे और मुक्त न हो यह कभी हो ही नहीं सकता। अवश्य ही वह मुक्त होगा। पर धर्मपालन की पद्धति तो सही हो रागद्वेष मोह में माने गये मौज में भी फर्क न डालना चाहें और हम संसार के समस्त संकटों से मुक्त होने की बात कर लें, यह कैसे हो सकता है?

व्यामोही मानव की प्रथम विडम्बना- यह व्यामोही मानव तीन बातों में ही तो फंसा हुआ है बाहर में, जिसे लोग कहते हैं- जर, जोरू, जमीन। जर का अर्थ है धन वैभव हीरा, रत्न, सोना, चाँदी, पैसा, नोट, ये सब वैभव कहलाते हैं, इनमें जो उपयोग फंसा रहता है, इनकी ओर जो दृष्टि बनी रहती है सोचिए वह कितनी बहिरंग दृष्टि है। जो जड़ हैं, जिनका संग निश्चित् नहीं है, अटपट मिल गए है उन बाह्यपदार्थों की ओर तृष्णा का परिणाम होना, ग्रहण का परिणाम होना वह कितनी गरीबी है? यह मोही तो समझता है कि मैं लाखों का धन कमाता हूं, रखता हूं और वह धन मेरे हाथ की बात है, मैं अमीर हूं, पर हो रहा है उल्टा काम। अपने अन्तर के वास्तविक ज्ञानानन्दस्वरूप निधि का त्यागकर असार भिन्न जड़ इन बाह्यविभूतियों की ओर अपना उपयोग सर्वस्व लगा देता है, बना भिखारी निपट अजान की स्थिति बना लेता है। वे तो बड़ा गरीब है उसे कहीं सत्य संतोष मिल नहीं पाता है, सदा आकुलित रहता है। यह है इस सम्पदा का हाल।

व्यामोही मानव की द्वितीय विडम्बना- स्त्री की बात देखिये- ये व्यामोही पुरुष स्त्री को सर्वस्व मानते हैं। मेरा देवता है तो स्त्री, भगवान है तो स्त्री। जितना कमा-कमाकर मरते हैं सब स्त्री के लिए, पर होता कितना अनर्थ है सो तो देखिये। स्त्री का प्रेम, स्त्री का कामस्नेह कितना कटु परिणाम वाला है सो देखिये। कोई पुरुष स्त्री का प्रसंग भी न करे, बहुत दिनों तक चाहे उससे कामसेवन भी न करे, लेकिन उसके संग से कामस्नेह करे। उसके चित्त में छुपी हुई कमी कुछ प्रकट हुई जो मलिनता रहती है उस परिणाम के करण इसके शरीर का भी विनाश हो रहा है और मानसिक बल आत्मीय बल ये भी समाप्त हो रहे हैं। जैसी यह बात पुरुष के लिए स्त्री की है वैसी ही बात स्त्री के लिए पुरुष की है। इसके स्नेह से आत्मीय लाभ नहीं होता। कोई बिरले ही गृहस्थ संत ऐसे होते हैं कि घर में रहते हुए भी उनका परिणाम साधु संतों की तरह निर्विकार रह सकता हो कुछ समय के लिए। और क्या-क्या कहानी सुनाए, न जाने स्त्री के कारण क्या–क्या क्लेश हैं। आराम में रहते हुए भी वे अपनी रोनी कहानी सुना सकते हैं कि मुझे बड़ा क्लेश है।

व्यामोही मानव की तृतीय विडम्बना- तीसरी विडम्बना है जमीन मकान दुकान खेती पृथ्वी जो कोई कुछ हिस्सा में थोड़ा बैठता हो या अपने हिस्सा के कुछ पास वाली जमीन हो ऐसी चाह रहती है कि यह भी मेरे कब्जे में आये। अरे मरने पर कुछ साथ ले जाया जायेगा? एक बार किसी राजा ने एक बुढ़िया का खेत लगान न देने के कारण हड़प करने का आदेश दिया। मकान झौंपड़ी खेती सब कुछ सरकार में जाने लगे। उन्हीं दिनों में किसी समय राजा बुढ़िया कि घर के सामने से निकला तो बुढ़िया एक बड़े टोकने में बहुत सी मिट्टी भरे हुए थी। राजा से कहा, भाई-भाई ! मेरा यह टोकना उठा देना। वह कहता है कि यह टोकना कैसे उठाया जा सकता है, यह तो बड़ा वजनदार है। तो बुढ़िया बोली कि इतनी मिट्टी नहीं उठा सकते तो हमारे खेत तुम्हारे मरते समय तुमसे कैसे उठाये जायेंगे? अब तो राजा की आंखें खुलीं। राजा बोला-बुढ़िया मां मैंने बड़ा कसूर किया, जा तेरे खेत मकान सब कुछ तुझे वापस कर दिये।

कर्तव्य- भैया ! अब समझ लीजिए कि क्या करना था और कितने उल्टे काम करने में बह गए? इसका काम निश्चयप्रतिक्रमण था। रागादिक विकल्पों की तरंग न उठे, मात्र यह आत्मा अपने आपमें अपने आपका, सहजस्वरूप दर्शन करे, ऐसा निस्तरंग नीरंग शुद्ध ज्ञानप्रकाश जगे यह तो किया जाने का काम था, पर इसकी दृष्टि जाती भी है क्या? इस ओर निगाह जाती भी है क्या? यदि इस ओर दृष्टि भी है? तो अब भी आपके पतंग की डोर आपके हाथ में है और यदि कुछ भी दृष्टि नहीं जाती है तो समझ लीजिए कि आपके पतंग की डोर आपके हाथ से निकल गयी। सदा धक्के ही खाते रहोगे। यों ये रागद्वेष मोह विभाव संसार के बंधन को बढ़ाने में, इस परिभ्रमण को बढ़ाने में कंदमूल की तरह हैं। उसका निवारण करे और अखण्ड आनन्दमय निज कारणपरमात्मा का ध्यान करें, ऐसे शुद्ध उपयोग के रखने वाले पुरुष के निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

निश्चयप्रतिक्रमण का पात्र- निश्चयप्रतिक्रमण का पात्र वही है जो निश्चयरत्नत्रय का अधिकारी है। उत्कृष्ट तत्त्व है एक चैतन्यस्वभाव प्रथम तो विश्व के समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट पदार्थ है यह आत्मा क्योंकि यह ज्ञाता द्रष्टा है, व्यवस्थापक है, निर्देशक है, समझने वाला है और फिर इस आत्मा में भी रागद्वेष मोह विकल्प तरंग कल्पनाएँ ये सब कूड़ा कचरा हैं, ये

सारभूत नहीं हैं। इनमें भी सारभूत शुद्ध ज्ञान प्रकाश है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश जिस तत्त्व का आलम्बन लेने से प्रकट होता है वह सर्वोत्कृष्ट सारभूत परमतत्त्व तो सहज आत्मतत्त्व है। उस परमतत्त्व की श्रद्धा हो, उस परमतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान हो और उस ही परमतत्त्व में आचरण हो, रमण हो तो ऐसे निश्चयरत्नत्रय के अभिमुख पुरुष के यह निश्चयप्रतिक्रमण रहता है।

परमार्थप्रतिक्रमण का प्रसाद- जिसमें समस्त प्रकार के वचनविषयक विकल्प नहीं रहते हैं और केवल एक शुद्ध सहज ज्ञानतत्त्व का आश्रय रहा करता है ऐसा यह निश्चयप्रतिक्रमण भव-भव के बांधे हुए कर्मों को, दोषों को, संस्कारों को मूल से यह विनष्ट कर देता है। बहुत विकल्पों के करने से क्या फायदा है? अरे एक परमार्थभूत इस चैतन्यस्वभाव का चिंतन करिये, इस परमतत्त्व का ध्यान करिये। इस परमतत्त्व में ऐसा प्रताप है कि सर्व संकट समाप्त करने की दिशा प्रदान करता है जिससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है, ऐसे इस कारणसमयसार का आश्रय करना, सो निश्चयप्रतिक्रमण है। आइये अपनी ओर भावना करिये। पूर्व में तीव्र रागादिक भावों का मोह भाव से जो कर्मोपार्जित किया है उसका परित्याग करना चाहिए। उनको दूर करके अब ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा में ही सदा रहते हुए इस भावना का उपयोग करो। ऐसे शुद्ध उपयोग से आत्मा को शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है।

गाथा ८४

आराहणाए वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कभणमओ हवे जम्हा।।८४।।

प्रतिक्रमणपात्र- जो पुरुष सर्वप्रकार से विराधना को छोड़कर आराधना में लगते हैं वे प्रतिक्रमण कहे जाते हैं। प्रतिक्रमण एक भाव है। भाव भाववान् से जुदा नहीं होता है, इस कारण प्रतिक्रमणमय जीव ही प्रतिक्रमण कहा जाता है। विराधना कहते हैं अपराध को, विगत हो गयी है राध जिस परिणाम से उसे विराधना कहते हैं। अपनी आत्मसिद्धि जिस परिणाम में नहीं है उस परिणाम को विराधना कहते हैं और जहां चारों ओर से संसिद्धि बनी होती है उसे आराधना कहते हैं। परपदार्थों की ओर उन्मुख होना, रागद्वेष परिणाम करना ये सब विराधना है और सहज आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि होना जो विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है ऐसे निज तत्त्व का आश्रय लेना यह है आराधना। जो पुरुष विराधना को तो त्याग देता है और आत्मा की आराधना में लगता है उसही महात्मा का नाम प्रतिक्रमण है क्योंकि यह जीव ही तो प्रतिक्रमणमय हुआ है।

प्रतिक्रमण व प्रतिक्रामक का अभेद- जैसे धर्मोत्मावों को छोड़कर धर्म अन्यत्र कहां मिलेगा? कोई कहे कि धर्म की पूजा करो, धर्म का प्रचार करो तो वह धर्म कहां मिलेगा अन्यत्र? उस धर्म की क्या शकल है? वह धर्म धर्मात्मा पुरूषों का जो परिणाम है वही धर्म है। धर्मात्मावों को छोड़कर धर्म अन्यत्र नहीं मिलेगा। धर्म है भाव और धर्मात्मा है भाववान्। भाव और भाववान् भिन्न-भिन्न नहीं हुआ करता है। केवल गुणगुणी भेद परिचय के लिए किया जाता है। ऐसे ही यह प्रतिक्रमण एक विशुद्ध परिणाम का नाम है। वह विशुद्ध परिणाम आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता। इसलिए उन पुरूषों का ही नाम प्रतिक्रमण है जो विराधना को तजकर आत्मा की आराधना में लगते हैं।

परमार्थ निरपराधता- जो परमतत्त्व का ज्ञानी जीव निरन्तर आत्मा की ओर अभिमुख होकर ऐसे ही धारावाही परिणमन से साक्षात् स्वभावरूप आत्मा के या स्वभाव में अवस्थित आत्मतत्त्व की आराधना में रहा करता है वही पुरुष वास्तव में निरपराध है और जो निरपराध है उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण है। आत्मा के सहज ज्ञानानन्दस्वरूप को तजकर अन्य किसी परभाव में रमना सो सब अपराध हैं। कोई बड़ी न्यायनीति से धन कमाता है, किसी के साथ किसी प्रकार का असत्य व्यवहार नहीं करता है। अपना ही धन बैंक में रखना, हिसाब में रखना, संपदा की बढ़ोतरी करना, कमाई करना, आजीविका के साधनों की संभाल बनाना, सारे व्यवहार न्यायनीति से करता है, सो जो धन कमाने का उसका प्रसंग है यह भी अध्यात्मदृष्टि में अपराध है। असत्यता से, बेईमानी से धन कमाना यह तो प्रकट अपराध है ही किन्तु बड़ी नीति से भी रहे, लेकिन परपदार्थों की ओर दृष्टि हो, उनकी रक्षा का यत्न हो, उनमें ममत्व हो वे सब अपराध माने गये हैं। अध्यात्मभूमि में केवल सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की उपासना को निरपराध कहा गया है, इसको छोड़कर किसी भी बाह्यतत्त्व में अभिमुख होना, उसकी ओर ममता होना, ये सब अपराध कहे जाते हैं। गृहस्थजन ऐसे अपराध करते हुए भी निरपराध कारणसमयसार की दृष्टि बनाया करते हैं,

उसके प्रताप से सब अपराध माफ होते चले जाते हैं। जो अज्ञानीपुरूष अपराध की प्रवृत्ति भी करें और निरपराध आत्मस्वभाव की दृष्टि भी न करें, ऐसे पुरुष तो पूर्ण अपराधी ही हैं, अनन्त संसार के पात्र हैं।

निरपराधता में अनाकुलता का स्वाद- जहां आत्मा में आराधना नहीं है वे सब अपराध हैं। जहां शुद्ध ममता का, अनाकुलता का स्वाद नहीं आ रहा है वे सब अनुभवन अपराध हैं। किसी भी बाह्य प्रसंग में चाहे वे बड़ी सच्चाई के साथ भी जुट रहें हो किन्तु उनसे पूछो कि क्या तुम इस समय निराकुलता में हो? तो उत्तर मिलेगा कि निराकुलता तो नहीं है। निराकुलता तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने में ही है। जहां निराकुलता है, वास्तविक सहज परम आल्हाद है वहां ही आत्मा की आराधना है और वही जीव निरपराध कहलाता है। यह प्रकरण चल रहा है परमार्थप्रतिक्रमण का। अर्थात् लगे हुए दोष हमारे कैसे दूर हों? इसके उपाय में यह परमार्थप्रतिक्रमण कहा जा रहा है। साधुजन व्यवहार में अपने दोष आचार्य से कहते हैं और आचार्य महाराज उसको प्रायश्चित्त देवें, वह उस प्रायश्चित्त का पालन करे और विधि सहित प्रतिक्रमण पाठ करले, ये सब व्यवहारप्रतिक्रमण की बातें हैं। यह व्यवहारप्रतिक्रमण भी उसका व्यवहारप्रतिक्रमण कहलाता है जिसे निश्चयप्रतिक्रमण की सुध है। ऐसे ही पुरुष व्यवहारप्रतिक्रमण में प्रवृत्त होकर इसके ही बीचों बीच अथवा आगे पीछे जब कभी भी इस निरपराध सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की अनुभूति प्रतीति करते हैं, इसका ही आलम्बन करते हैं, वहां ही उन्हें परमनिराकुलता के दर्शन होते हैं और लगे हुए दोषों का वहां प्रतिक्रमण हो जाता है।

निश्चयप्रतिक्रमण के स्पर्श बिना वास्तविक शान्ति का अविकास- दोषों का पुन्ज यह आत्मा उन दोषों को दूर करने के लिए किसी बाहरी क्रिया में, बाहरी प्रवृत्ति में अपना मन लगाए तो बाह्य प्रवृत्ति में बाह्य कामों में उपयोग लगाना भी तो खुद एक दोष है। उस दोष के द्वारा दोष का प्रतिक्रमण नहीं किया जा सकता। हां निर्दोष आत्मतत्त्व की सुध रखते हुए प्रवर्तमान राग में जो व्यवहारविधि से बाह्य क्रियावों में प्रवृत्ति हो रही है वह दोष होते हुए भी व्यवहार में चूंकि निश्चय का शरण मिला है ना, सो वह प्रतिक्रमण कहलाने लगता है, परन्तु जिसे इस निश्चयस्वरूप की सुध भी नहीं है वह कितने भी व्रत करे, तप करे, प्रायश्चित्त करे, कुछ भी करे, किन्तु मोक्षमार्ग की बात वहां नहीं आ सकती है। जैसे जीवदया करने से स्वर्ग मिल सकता है ऐसे ही व्रत तप संयम बाह्यरूप करने से स्वर्ग मिल सकता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर मोक्षमार्ग और स्वर्ग में विलक्षण अन्तर है। स्वर्ग में भी शांति या आनन्द निराकुलता नहीं है। मन वहां भी है और भोगों की वान्छाएँ वहां भी जगती हैं। जहां परपदार्थों को विषय बनाकर भोगों की इच्छा बने वहां निराकुलता कैसे रह सकती है, किन्तु मोक्षमार्ग में अपने निराकुल आत्मस्वरूप की सुध रहने के कारण शांति रहा करती है, उसके मोक्षमार्ग चलता है।

मूढ़ता में हित का अदर्शन- भैया ! अपने आपकी ओर मुड़कर जरा निरखिये तो सही, सब कुछ सिद्धि अपने आपमें हाजिर खड़ी हुई है। दु:ख तो बुलाये, बुलाये आया करते हैं और शांति पहिले से ही हाजिर खड़ी है, आपकी दृष्टि की प्रतीक्षा कर रही है, लेकिन यह व्यामोही जीव बुलाये-बुलाये से आने वाले दु:ख का स्वागत करने में अभ्यस्त है और स्वयं ही जो शांतस्वभावी स्वरूप है, सदा अपने आप जो तैयार खड़ा हुआ है उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है। मोह और मूढ़ता इसको ही कहते हैं।

मूढ़चतुर का अर्थ- भैया ! लोक में चतुर कहे जाने से लाभ क्या है? महापुरूषों ने जिसे चतुर कहा हो वह तो मूढ़ों का ही चतुर कहलायेगा, वास्तविक चतुर न कहलायेगा। जैसे कोई कहे कि आप तो बदमाशों के राजा हैं और राजा नाम सुनकर वह खुश हो कि देखो इसने हमारी कितनी बढ़ाई की है कि यह तो बदमाशों का राजा है। अरे कहा क्या गया है कि यह अव्वल नम्बर का बदमाश है, जितने बदमाश है उन सबका यह मुखिया है। इसको सुनकर कोई प्रशंसा की बात मान ले तो उससे बढ़कर मूर्ख क्या होगा? ऐसे ही जो मोही जीव व्यामोही मूढ़ पुरूषों में जो चतुर कहलाये वह उन मूढ़ पुरूषों में चतुर है, मूढ़ों का राजा है, मूढ़ों में श्रेष्ठ है। उसका अर्थ यह है कि यह मूढ़ है, उसे सुनकर कोई खुश हो जाय तो उसे मोही मूढ़ ही समझना चाहिए। यहां के लोगों की वाट पर यहां के मोही पुरूषों की राय पर हम चतुर कहलायें तो उस चतुराई का अर्थ मूढ़ता ही होगा। कोई वास्तविक चतुराई न कहलायेगी। सारा जहान मेरे बारे में कुछ भी सोचे, मुझे पागल सोचे, बुरा जाने किन्तु यह मैं अपने आपमें अपने आपके शुद्ध ज्ञानप्रकाश में लीनता पाता हूं, उस ही उपासना में रत रहना चाहता हूं, ऐसा ही यत्न किया करता हूं। तो मैं सबका बुरा होकर भी मोक्षमार्ग के लिए भला हूं।

विकट गोरखधंधा- यह जगत गोरखधंधा है। जैसे गोरखधंधे में जरा भी हाथ लगाया और वह कड़ा छड़ा निकल जाय, फंस जाय, तब निकल जाय तो फंसा नहीं सकते, फंस जाय तो निकाल नहीं सकते, ऐसे ही यह जगत, ये मायामयी सम्पदाएँ, यह मायामयी सम्पदावों का समाज इस गोरखधंधे में किसी भी प्रकार की घुस पैठ करे तो इसका परिणाम दु:खद ही होता है। जैसे थोड़ा रिपटे किसी जगह में तो उसे पूरा रिपटकर गिरना ही पड़ता हैं। रिपटने के बीच में सावधान होकर संभल जाना अत्यन्त कठिन बात है। रिपट न सके जब तक सावधानी बनाए तब तो भला है किन्तु थोड़ा पैर रिपटा तो फिर सावधानी बनाना कठिन हो जाता है। संभव है कि एक पैर अच्छी तरह रखा हो और दूसरा पैर थोड़ा रिपटे तो सावधानी कुछ हो भी सकती है। पर जहां मैदान है, कीचड़ भरा हुआ है, दोनों ही पैर रिपटते हैं तो वहां बचना कठिन है। ऐसी इस मायामयी दुनिया में मोही समाज में कीचड़ भरा क्षेत्र है, इसमें बाहरी पोजीशन रखने की रिपट हो और अंतरंग में उसकी चाह की रिपट हो तो जहां दोनों ही पैर रिपट रहे हों उस जीव में सावधानी आ जाना बहुत कठिन बात है।

निरपराध की संकटमुक्तता- जो मनुष्य बाहरी पोजीशन बाहरी वृत्तियों में न उलझते हों और आत्मा की आराधना की ओर उन्मुख हो तो उन पुरूषों के परमार्थप्रतिक्रमण होता है, क्योंकि वह जीव स्वयं परमार्थप्रतिक्रमण है। राधा का अर्थ सिद्धि है। राधा शब्द में राधृ संसिद्धौ धातु है उससे निष्पन्न राधा, राध की राधन शब्द है जिसका अर्थ सिद्धि होता है। आत्मसिद्धि, आत्मराधा ये शब्द एकार्थक शब्द हैं। जहां राधा नहीं रहती है उस भाव का नाम अपराध है। जहां राधा बनाये रहते हैं उस परिणाम का नाम निरपराध है, प्रतिक्रमण है, समृद्धि है। राधा का अर्थ है आत्मशुद्धि, आत्मदृष्टि, आत्मसमृद्धि अनाकुलता की अनुभूति। जो जीव इस सिद्धि से च्युत है वही अपराधी है। जो अपराधी है सो शंका, भय, शोक, चिंता सभी दण्डों का अधिकारी है। जो निरपराध है वह समस्त दण्डों से दूर है।

बाहर विपदा का अभाव- भैया ! कहां है दु:ख? जहां अपने आपको देह से भी न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र निहारा वहां एक भी तो संकट नहीं रहता है। जहां इस परमार्थ वास्तविक आत्मस्वरूप से चिगकर बाह्यपदार्थों की ओर लगा बस वहां सारे संकट आ जाते हैं। इस उपयोग में अनात्मतत्त्व का कुछ भी चिंतन करना, कुछ भी कल्पना बनाना, वह सारा संकट है। आत्मा का संकट बाहर कहीं नहीं है। कोई मकान की मंजिल गिर गयी गिर जाने दो, वह मकान अलग सत् है, मायामय है, पुद्गल का ढेर है, यह आत्मा आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानानन्दमय श्रेष्ठ तत्त्व है। क्या हो गया यहां? किन्तु जहां इसने ममत्व परिणाम किया, परपदार्थ में यह ममत्व नहीं कर सकता, किन्तु परपदार्थों को विषय बनाकर अपने आपके श्रद्धाचारित्र गुणों में उपयोग बनाया, बस लो यह विकार विपदा बन गयी। मकान गिरना विपदा नहीं है, धन की कमी हो जाना विपदा नहीं है। किसी पुरुष के द्वारा गालीगलौज की चेष्टा हो जाना विपदा नहीं है, बाहर में रंच भी विपदा नहीं है, अपने आत्मप्रदेश से बाहर एक प्रदेश भी आगे कहीं विपदा नहीं है। विपदा तो अपने परिणाम में उद्दण्डजन जो कुछ किया करते हैं, अहंकार और ममकार का जो परिणाम बनाया गया है वह विपदा है, वह संकट है।

विपदाविनाशिनी दृष्टि- भैया ! इस विपदा को कौनसा परपदार्थ मिटा सकता है? जब किसी परपदार्थ से मुझमें विपदा ही नहीं आती तो किसी परपदार्थ का यह भी अधिकार कैसे हो सकता है कि मेरी विपदा को दूर कर दे। अरे मैं ही व्यर्थ के विकल्प बनाकर विपदा बना रहा हूं ना। यह मैं भ्रम त्यागकर निरपराध चित्प्रकाशमय, चित् विलासात्मक आत्मतत्त्व को निहारूँ तो ये सर्व संकट मुक्त है। आत्मा का कार्य केवल जानन देखन और आनन्दमय रहने का है, इसके आगे कहीं कुछ दौलत ही नहीं है। परमाणु मात्र भी इसका कहीं कुछ नहीं है। ऐसी जहां दृष्टि जगी अपने आपकी, ऐसे शुद्ध प्रकाश का दर्शन हुआ कि सारे संकट एक साथ तुरन्त बुझ जाते हैं।

निरपराधदर्शन में परमार्थप्रतिक्रमण- ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आत्मतत्त्व की दृष्टि में जो जगता है, वह निरपराध है, उसका बंधन नहीं होता किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरन्तर अनन्त कर्मों को बांधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हैं। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्व का ध्यान करता है वही निरपराध पुरुष कर्मों के परित्याग में समर्थ होता है। निष्कर्म, ज्ञानमात्र अपने आपको निहारने में परमार्थप्रतिक्रमण होता है।

गाथा ८५

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चई पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।।८५।।

प्रतिक्रमणपात्र- अनाचार को छोड़कर जो आचार में स्थिरता को करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह जीव प्रतिक्रमणमय है। यह सब प्रकरण परमार्थप्रतिक्रमण का है। परमार्थप्रतिक्रमण कहो या निश्चयप्रतिक्रमण कहो दोनों ही एकार्थक शब्द हैं। जो निश्चय आचार के आचरने में दक्ष है ऐसे महात्मा के ही निश्चयप्रतिक्रमण होता है। निश्चय आचरण कहो या परमउपेक्षा संयम कहो, किसी भी वस्तु में रागद्वेष न हो, सबका मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहे, अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र निरखे, ऐसे पावन निष्कलंक आत्मा के निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

गृहस्थों का आचार- आचार क्या चीज है? इसकी व्याख्या दृष्टि के अनुसार होती है। लौकिक दृष्टि में गृहस्थजनों के जो ५ अणुव्रत का यत्न है उसके विरूद्ध जो आचरण है वह अनाचार है। किसी पर अन्याय करना, किसी का दिल दुखाना, अहित करना, बुरा सोचना, झूठी गवाही देना, झूठा लेख लिखना, चोरी का उपाय बताना, चोरी किए हुए माल का खरीदना आदि अनेक दुराचरण हैं। परस्त्री को, वेश्या को, परनारी को बुरी दृष्टि से, विकारभाव से निरखना, परिग्रह का संचय करना, तृष्णा रखना, किसी योग्य परोपकार में व्यय न कर सकना और अपकार में धन खर्चना ये सब अनाचार हैं। इन अनाचारों से जो दूर है वह गृहस्थों के योग्य अहिंसा में रहता है, सत्य, प्रिय, हित वचन बोलता है, न्याय विधि से धन कमाता है, स्वस्त्री में संतोष रखता है, परिग्रह की तृष्णा में नहीं रहता है ऐसा पुरुष आचारवान् है। यह तो गृहस्थ योग्य व्याख्या है। इस आचार में रहने से निश्चयप्रतिक्रमण नहीं होता है। हां, व्यवहार में दोषशुद्धि यथापद है ही।

साधुवों का आचार- इससे आगे चलकर साधुसंतों का आचरण देखो। साधुसंतों के सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग है, उनकी सर्ववृत्तियां सर्वप्रवृत्तियां अहिंसामयी होती हैं। सत्यमहाव्रत भी है। गृहस्थ यदि न्यायनीति से रोजगार करें, उसमें भी वे आत्महित के लिए जो वचन आवश्यक हैं वे बोलें, अनावश्यक वचनों का परिहार करें, ऐसे आरम्भविषयक सत्य वचनों का भी परिहार सत्य महाव्रत में हो गया। अचौर्यमहाव्रत इसमें सर्व प्रकार से चौर्यभाव का परित्याग है, स्त्री मात्र का त्याग है, पूर्णशीलव्रत है बाह्यपरिग्रहों का भी त्याग है। एक व्रत तप संयम में जिनकी प्रवृत्ति रहती है ऐसे साधुवों के इस प्रवर्तन को भी आचार कहते हैं।

निश्चय आचार- भैया ! यह यथापद आचार की बात है। निश्चय आचार में तो यह ग्रहण करना कि शुद्ध आत्मा की आराधना से व्यतिरिक्त जो कुछ भी प्रवर्तन है वह सब अनाचार है। निश्चय की दृष्टि में कहा जा रहा है यह जिस आचरण में निश्चय प्रतिक्रमण होता है उस आचरण के प्रकरण में यह बात बतायी जा रही है कि रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति होना यह है निश्चय आचरण। शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्व की श्रद्धा और इस ही ज्ञायकस्वरूप का परिज्ञान और इस ही ज्ञानस्वरूप में अभेदोपयोगी, उस निश्चयचारित्र स्वरूप, परम उपेक्षा संयमी जीव के निश्चयप्रतिक्रमण होता है। सर्व दोषों को दूर करना है ना? दोषरहित शुद्ध सहज स्वरूप के दर्शन में ही, उसमें स्थिर होने में ही दोष सर्वथा दूर हो सकते है।

शुभ अशुभ विकार- मान लो बड़ी जीव दया करके प्रासुक जमीन निरखकर आगे चले जा रहे है दयालु, बात तो अच्छी कर रहा है यह, परन्तु जीव दया का परिणाम करना, बाह्य की ओर अपना उपयोग देना यह आत्मा का निश्चय शुद्ध आचार तो नहीं है। यदि आत्मा का यह निश्चय शुद्ध आचार होता तो सिद्धों को भी यह करना चाहिए यह भी विकारभाव है। कोई अशुभविकार होते हैं, कोई शुभ विकार होते हैं। अशुभभाव और शुभ भाव हैं ये दोनों ही विकार हुए जैसे कि सुख और दु:ख ये दोनों विकारभाव हैं। भले ही जीव को व्यामोह के कारण दु:ख बुरा लगता है और सुख भला लगता है। मिष्ट भोजन अपने मन के अनुकूल बना तो उसको खाकर चैन मानते हैं, पर परमार्थदृष्टि से देखो तो दु:ख में भी इस जीव ने कोई कल्पना बनायी और सुख में भी इस जीव ने कोई कल्पना बनायी। दोनों ही विकार भाव हैं। ऐसे ही जो अशुद्ध पदार्थ हैं, विषयों की प्रवृत्ति है वह तो अशुभ है ही, विकार है ही, किन्तु जो भक्ति, दया, दान, उपकार, पढ़ाना, शिक्षा देना, दीक्षा देना, समिति का पालन करना आदि कार्य हैं ये सब भी जीव के विकारभाव हैं।

निश्चयचारित्र और प्रतिक्रमण- अविकार भावों में रमना सो निश्चयचारित्र है और विकारभाव होना यह निश्चयचारित्र नहीं है। तो भी मोक्षमार्ग की अपात्रता बनाने वाले विषयकषायों से बचा लेते हैं, सो वह सब व्यवहार आचरण है। सर्वप्रकार के विकारभावों से अपने को हटाना और अविकारस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व के उपयोग को स्थिर करना यह निश्चयचारित्र है। इस स्थिति में सर्वप्रकार के दोष टल जाते हैं। शुद्ध आत्मा के आलम्बन को छोड़कर ऐसी जितनी भी योग और उपयोग की प्रवृत्तियां हैं वे सब परमार्थदृष्टि से अनाचार हैं। उन सब अनाचारों को छोड़कर शुद्ध आचार में जो स्थिरता लेते है ऐसे साधुसंत ऐसे महात्मा प्रतिक्रमण कहलाते हैं।

अलौकिक तत्त्व- वह आचार क्या है जिसमें स्थिर होने पर निश्चयप्रतिक्रमण होता है? वह आचार है अपना जो सहज चित्स्वरूप है अथवा द्रव्यत्व गुण के कारण शुद्धविलासात्मक जो अपना स्वरूप है, परमविविक्त, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन समस्त कलंकों से रहित, केवल ज्ञानमात्र जो अपना स्वरूप है। पारिणामिक भाव है। उसमें स्थिर होना अर्थात् इस कारणपरमात्मतत्त्व की भावनारूप अन्तर्वर्तन होना, सहज वैराग्य भावनारूप प्रवृत्ति रहना यही है निश्चयचारित्र। निश्चयचारित्रवान् साधु प्रतिक्रमणस्वरूप होता है यही परम तपश्चरण है। यही साधु का धन है, सर्वोत्कृष्ट वैभव है। अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान् शुद्ध ज्ञानस्वभाव ज्ञानस्वरूपचिद्विलास ज्ञानप्रकाश दृष्टि में आये, उसही में अलौकिक आनन्द भरा है। इस यत्न को छोड़कर अन्य जितने भी यत्न हैं वे सब कुछ न कुछ आकुलता को ही लिए हुए रहते हैं। यह ज्ञानीसंत जो सहज वैराग्य परिणत है वह परम समता भाव में रमा हुआ है। केवल जाननहार रहना यही तो समता है, यही उत्कृष्ट त्याग है, यही अपने आपको सुखी रखने का उपाय है, यही आत्मकल्याण का अलौकिक तत्त्व है।

शान्ति का प्रसाधन- यह अलौकिक तत्त्व लौकिक बातों से नहीं मिलता। यह मायामय जगत्, ये विभाव मलीमस जीव इसमें जो रहा करते हैं, इनकी संगति करना, रागद्वेष भरी वासनाएँ अपने आपमें भी वासित करना, इस प्रकार के उत्पन्न किए गए विकार भावों से शांति नहीं प्राप्त हो सकती। आत्मशांति आत्मस्वभाव की आराधना में ही है, अन्यत्र नहीं है। भले ही अन्य कुछ शुभ प्रवृत्तियां यथापद कर्तव्यवश करनी पड़ती हैं, किन्तु जिन्हें अपने असली पुरूषार्थ की भी सुध है, मुझे मनुष्य जन्म पाकर वास्तव में काम क्या करना चाहिए था? इसकी जिन्हें सुध है उनके लिए तो गृहस्थ के योग्य कर्तव्य का करना कर्तव्य कहलाता है और जिन्हें अपने आपके परमकल्याण की सुध नहीं है उनके लिए गृहस्थी के समस्त काम कर्तव्य नहीं कहलाते हैं किन्तु व्यामोह हो जाता है।

प्रतिक्रमण और प्रतिक्रामक का अभेदरूप- यह ज्ञानी पुरुष चूंकि सहज निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप है जो कि एक निश्चय आचार में रह रहा है उसही को प्रतिक्रमण कहा गया है। भाव और भाववान में परमार्थ से भेद नहीं है, केवल गुणगुणी का भेद परिचय के लिए कराया जाता है। जैसे कोई कहे आग की गरमी चाहिए। गरमी का ही नाम तो वहां आग है। क्या आग जुदी चीज है, गरमी जुदी चीज है? अरे जो आग है सो आग की गरमी है। द्रव्य है निरन्तर परिणमता है। उसकी हम विशेषता बताये तो उसमें भेद करके ही बता सकेंगे। भेद बिना व्यवहार नहीं हो सकता है। व्यवहार का ही अर्थ भेद करना है। व्यवहरणं व्यवहार:। भेद की प्रमुखता न करके इस शुद्ध आत्मा को देखा जाय तो निश्चयरत्नत्रय परिणत निश्चय आचार में अवस्थित यह आत्मा ही प्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणमय है, प्रतिक्रमणमूर्ति है।

उद्देश्य के अनुसार प्रयोजक का यत्न- जिस जीव को अपने इस महामहिम शुद्ध तत्त्व की खबर नहीं है ऐसे जीव के धर्म का प्रारम्भ नहीं कहा गया है। बड़े-बड़े अनशन कायक्लेश करना किस लिए है? इसका प्रयोजन यथार्थ जो संकटहारी है, न विदित हो तो उसके करने का यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता है। लोक में कोई भी पुरुष प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं करता है। यह धर्म की धुन रखने वाला पुरुष भी कुछ अपना प्रयोजन रखकर अपने आचार की प्रवृत्ति करता है पर जो प्रयोजन सोचा हो उसकी परिणति से अधिक से अधिक वही प्रयोजन तो सिद्ध होगा। संसार के समस्त संकटों से विविक्त होना है, यदि यह प्रयोजन है तो इस प्रयोजन की सिद्धि की विधि ही यह है कि पहिले अपने आपमें यह सुनिर्णय कर लें कि यह मैं आत्मा इस स्वभाव वाला भी हूं या नहीं? यदि यह निर्णय न हो सका तो उन संकटों से मुक्ति का उद्यम व्यर्थ है। महिलाएँ रसोई बनाती हैं, उनका पक्का विश्वास है कि आटे से रोटी बनती है। कभी ऐसा विश्वास नहीं होता कि कहीं आज आटे से रोटी न बनें। ऐसी दृढ़ श्रद्धा उनकी होती है सो वे अपने काम में सफल हो जाती हैं। यह मैं आत्मा संकट रहित शुद्ध

ज्ञानानन्दमात्र आत्मतत्त्व हूं या नहीं, ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व का विशद अनुभव हो जाय तो उसका यह यथार्थ विधि में यत्न चल सकता है कि वह कभी संकटमुक्त हो जायेगा। जिसे अपने आपके संकटविमुक्त स्वभाव का ही परिचय नहीं है वह कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। जब तक कि वह इसका परिचय न पा ले।

कर्तव्य पुरुषार्थ- हे मुमुक्ष जनों ! ऐसे परमज्ञान और आनन्द अमृत से भरे हुए इस आत्मस्वभाव में दृष्टि द्वारा अवगाहना को करके संसार के समस्त संतापों को दूर करो। इस लोक में हम आपके संकटों को दूर कर सकने वाला अन्य कुछ भी तत्त्व नहीं। इस ही अपने स्वरूपसिद्ध सत्तासिद्ध सहज भाव को निरखो वह तो स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप है तो इस दृष्टि में संकट रह ही नहीं सकते हैं। ऐसे निज सहज स्वभाव के अवलोकन में, आलम्बन में निश्चयचारित्र होता है और निश्चयप्रतिक्रमण होता है। एक इस ही पुरुषार्थ से पूर्ण साहस करके आत्मरमण करना कर्तव्य है। इसके करते हुए भी इसमें स्थिरता जब-जब न हो सके तब-तब यदि कुछ अन्य भी व्यवहारिक अल्प धार्मिक कार्य चलें तो वे भी सहयोग देते हैं। एक इस निजस्वरूप को जाने बिना कुछ भी यत्न जल्प किये जायें वे सब बेकार होते हैं। एक अपनी सिद्धि का कारण यह आत्मतत्त्व का अनुभवन है।

आत्मशिक्षण- भैया ! इस गाथा में आचार्यदेव यह शिक्षा देते हैं कि अपने आपमें यह निर्णय बनाये रहो। शुद्ध आत्मा के ध्यान से अन्य जो कुछ भी प्रवर्तन हैं वे सब बाह्य आचार हैं। इन ही बाह्य विकारों में अपने उपयोग को रमाना यह जन्म मरण को ही बढ़ाने वाला यत्न है। उस अनाचार को छोड़े और सहज अनन्तज्ञान दर्शन आनन्द शक्तिस्वरूप आत्मा में स्थिर हों, और इस ही शुद्ध मलहारी सुधा सिंधु में अवगाह करके सर्वविभाव मलों का क्षय करें और सदा के लिए संकटों से मुक्त हों। ऐसी स्थिति में यह जीव लोकालोक का उत्कृष्ट साक्षी ज्ञाता द्रष्टा होता है। ऐसा इस निश्चयप्रतिक्रमण का फल है, सदा के लिए शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप बर्तते रहना। ऐसी शुद्ध ज्ञानानन्द वर्तना के लिये और अपने सर्वदोषों की मुक्ति के लिए शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व में अपना उपयोग देना चाहिए।

गाथा ८६

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उन्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८६।।

जो जीव उन्मार्ग का परित्याग करके जिनमार्ग में स्थिरभाव को करता है वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है। क्योंकि वह उस समय प्रतिक्रमणमय ही है। इस गाथा में निश्चयप्रतिक्रमण के उपायों में उन्मार्ग का परित्याग करना और शुद्ध सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा प्रणीत मार्ग को स्वीकार करना कहा गया है।

शंकालु के निश्चयप्रतिक्रमण की अपात्रता- जो जीव मिथ्या श्रद्धान से दूर है, सद्वचनों में रंच शंका जिसे नहीं है, अपने आपके सम्बन्ध में जिसे रंच भी व्यामोह नहीं है, यथार्थ शुद्ध तत्त्व को जो जानता है, सर्वप्रकार से भयों से रहित है ऐसे ही पुरुष के निश्चय प्रतिक्रमण हो सकता है। जो मिथ्या वचनों से तो मुग्ध हैं, हितमय वचनों में जिसे शंका है अथवा उनसे विपरीत हैं ऐसे पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण के पात्र भी नहीं होते हैं। उन्मार्ग का परित्याग करके जिनमार्ग में आये तो दोषों का दूरीकरण होता है।

भोगाभिलाषी के परमार्थप्रतिक्रमण की अपात्रता- जो पुरुष भोग विषयों में वान्छा रखते हैं, यत्न जिनका विषयों की साधना के लिए ही हुआ करता है, या तो इन्द्रिय के विषयों की साधना करना या अपने मन में उठी हुई अटपट कल्पनावों को पूरा करना, यह ही जिसके जीवन का ध्येय है वहां वह विशुद्ध परिणाम कैसे जग सकता है जिसके कारण किए हुए दोष भी दूर हो सकें। जो जीव संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं, केवल एक विशुद्ध चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ जिनकी चाह नहीं है ऐसे पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमण का परमपुरूषार्थ प्राप्त कर सकते हैं।

जुगुप्सक के दोषशुद्धि की अपात्रता- जो अपने दोषों से ग्लानि करते हैं किन्तु किसी भी परजीव से किसी भी परधर्मात्मावों से ग्लानि नहीं करते हैं, परसेवा में जिनकी ग्लानिरहित प्रवृत्ति हैं, जो क्षुधा तृष्णा आदिक वेदनावों से खिन्न नहीं होते हैं, ज्ञाता द्रष्टा रहने का यत्न रखते हैं ऐसे पावन आत्मा के निश्चय प्रतिक्रमण होता है। जो दोषों को बसायें, जो दूसरों

के दोषों को देखकर दूसरों से ग्लानि करें अथवा धर्मात्मावों के पवित्र शरीर को निरखकर ग्लानि करें, ऐसे अशुद्ध अपवित्र आशय वाले पुरुषों के निश्चयप्रतिक्रमण नहीं हो सकता है।

उन्मार्गरूचिया के दोषनिवर्तन की अपात्रता- जो पुरुष बाह्यदृष्टि वालों की प्रशंसा और स्तवन किया करते हैं, मिथ्या धर्म में अनुरक्त जीवों के लौकिक चमत्कारों को देखकर उनकी ओर ही अपना आकर्षण बनाए रहते हैं ऐसे पुरूषों के अपने दोषों के दूर करने का परिणाम ही नहीं होता है। जिसे मोक्षमार्ग चाहिए है, जिसको मोक्षमार्गियों से प्रीति है, शुद्धतत्त्व की ही प्रशंसा और स्तुति का जिसका यत्न है ऐसे पुरुष ही दोषों से अपने को बिलग करके शुद्धविकास रूप बना सकते हैं। अहिंसा धर्म के अतिरिक्त अन्य प्रकार के धर्मों में कुधर्मों में जिनकी रूचि जगे और हिंसामय अथवा उन सब कुधर्मों के मानने वालों में जिनका मन रमे, ऐसे पुरुष अपने दोषों को दूर करने के अधिकारी नहीं होते।

उद्दण्ड पुरुषों के परमार्थप्रतिक्रमण की अपात्रता- जिन पर ऐसी उद्दण्डता छायी है कि धर्मात्मावों के दोषों को, हों अथवा न हों, प्रकट करने का, प्रजा में प्रचार करने का जिनका मन चलता है अपने आपमें जो दोष है उनको छुपाकर अपने गुण जाहिर करने का जिनका प्रयत्न बना रहता है ऐसे पर्यायव्यामूढ़ पुरुषों के परमार्थदृष्टि ही नहीं होती है। फिर परमार्थप्रतिक्रमण कहां से हो सकेगा? जिन्हें अपनी स्थिरता का रंच भी ध्यान नहीं है, पापों में लगे जा रहे हैं, उस ओर से रंच भी विशाद नहीं है। धर्म धारण भी करें तो जरासा उपसर्ग आने पर जरासी कठिनाई सामने आने पर धर्म की वृत्ति से चिग जायें और उस चिगे हुए का विशाद भी न हो, पुन: धर्म में लगने का उत्साह भी न हो ऐसे मन चले जीवों के दोषों को शुद्ध करने वाला भाव कैसे पैदा हो सकता है?

धर्म के द्वेषी व अप्रभाव के निश्चयप्रतिक्रमण की अपात्रता- जिन्हें निर्दोष आत्मतत्त्व से प्रेम नहीं है, निर्दोष गुणपुन्ज साधु संतों के सस्तवन में, उनके संग में, उनकी उपासना में जिनका मन नहीं चाहता है और व्यसनी, पापी, मोही पुरुषों में मन रमा करता है। अपना तन, मन, धन सब कुछ विषयसाधनों के लिए ही न्यौछावर कर रहे हैं ऐसे उन्मार्गगामी पुरुषों के प्रतिक्रमणरूप धर्म कैसे हो सकता है? यों जो अपने अनाचार के द्वारा धर्म की अप्रभावना कर रहे हैं, धर्म समाज में जो कलंक बने हुए हैं ऐसे जीवों से प्रतिक्रमण की तो बात ही क्या व्यवहारधर्म की भी संभावना नहीं है। व्यवहारधर्म भी उनका सब थोता है। निश्चयप्रतिक्रमण का पात्र वह ही पुरुष होता है जो विपरीत मार्ग को तजकर सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत अहिंसामय आध्यात्मिक शुद्धतत्त्व के निर्देशक सन्मार्ग में लगते हैं उनके ही निश्चयप्रतिक्रमण हो सकता है।

सन्मार्गगामी के निश्चयप्रतिक्रमण का अधिकार- निश्चयप्रतिक्रमण का अधिकारी सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप संसारफंद से प्रीति रखते हैं, लोक में मेरा यश बढ़े इतने ही भाव से जिसने धर्म का भेष रखा है और आत्मतत्त्व के अपरिचय से जिसमें विषयसाधनों में भी अन्तर नहीं आया, मौज रहे फिर भी साधुता कहलाये अथवा भोग न छोड़कर भी हम कल्याण के पात्र बन जायें, ऐसी भावना रखकर जो दोनों ओर अपनी गति रखे ऐसे पुरुष के परमार्थस्वरूप की झलक कहां से आ सकती है? जिस दृष्टि के प्रताप से निश्चयप्रतिक्रमण हुआ करता है। यदि सर्वदोषों से रहित होना है तो जो सर्वदोषों से रहित है वे जिस प्रकार मार्ग से चलकर दोषरहित हुए हैं उस मार्ग पर चलना होगा। पूर्णनिर्दोष परमेश्वर महादेवाधिदेव रागद्वेष रहित सर्वज्ञ भगवान हैं। उन्होंने अहिंसात्मक विशुद्ध आचरण अपनाया था, इस अहिंसात्मक आचरण में कितना प्रभाव है, उस प्रभाव को अहिंसातत्त्व अपरिचयी पुरुष समझ नहीं सकते हैं।

अज्ञानी का मनगड़न्त भाव- भैया ! अज्ञानी जीवों की दृष्टि तो इस मायामय जगत् की ओर रहती है। वे इस जगत में मोही समाज में पोजीशन की वृद्धि और पुद्गलों का संचय करना, इन दो बातों में जितनी प्रगति हो उसमें ही बड़प्पन समझते हैं, परन्तु वह कल्पित बड़प्पन है, जिस बड़प्पन के प्रयत्न में पाप परिणाम किए जा रहे हैं और जिस पाप परिणाम के फल में भविष्य में दुर्गति होगी, ऐसा बड़प्पन क्या बड़प्पन है? एक भव का बड़प्पन न रहे, यह कल्पित पोजीशन न रहे, अथवा इन समागत पुद्गलों का कुछ से कुछ हो जाय तो उससे क्या अनर्थ है? पर एक अपने आपके शुद्ध स्वरूप की उपासना न कर सके तो इस अनाचार के कारण इसकी ऐसी दुर्गति होगी कि जिससे फिर कल्याण की संभावना का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। आज मनुष्य है। इस मनुष्यसमाज में कहीं थोड़ा अपमान हो गया; पोजीशन घट गयी। पोजीशन क्या घट गयी?

जो पोजीशन बढ़ाना चाहा था वह नहीं हो सका, जो नाम जाहिर करना चाहते थे वह नहीं हो सका, तो यह कौनसा बड़ा टोटा है? यदि मरकर सूकर, कीडा़ मकोड़ा, पेड़ पौधे हो गये तो अपमान तो यह है, तो कल्याण करने से वंचित रह गए।

स्वयं का स्वयं महत्त्व- इस पर्याय में यदि कोई दूसरा मनुष्य अपमान करके राज़ी होता है तो उसकी राज़ी के लिए तुम अपने अपमान को भी वैभव समझो। यह मायामय जगत् है, यहां अपने लिए क्या चाहना? यहां की दृष्टि तजकर इस अलौकिक निज कारणसमयसार की ओर दृष्टि लगायें, यहां जैसे शुद्ध शांति संतोष हो सके वह यत्न करें, यह है वास्तविक चतुराई। पर का मुँह ताकना, पर की आशा रखना, पर से अपना महत्त्व बढ़ नेकी वान्छा रखना, यह कितनी विडम्बना है? अरे अपने आपको निरखो, स्वयं में ही वह समर्थ है जिससे यह स्वयं महान् है। समुद्र विशाल और गम्भीर होता है, वह कहीं छोटी-छोटी नदियों के द्वारा स्तुति किए जाने से विशाल नहीं है। वह तो स्वयं ही विशाल है। छोटी तलैयों की निंदा किए जाने से कहीं समुद्र की महत्ता नहीं है। वह तो अपने आप विशाल गम्भीर हैं। इसी प्रकार अपने इस आनन्ददाता परमैश्वयसम्पन्न आत्मप्रभु को निरखो, इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को देखो। यह स्वयं महान् है। इस मायामयी दुनिया के इन मोही मायामयी पुरूषों के द्वारा कुछ नाम ले देने से, कुछ प्रशंसा किए जाने से तुम महान् नहीं हो। तुम तो स्वरूप से ही स्वयं महान् हो। पूर्ण निराकुल तुम्हारा स्वभाव है, सर्वविश्व को जानने देखने का तेरा स्वभाव हैं।

व्यर्थ की अटक- एक कहावत में कहते हैं कि हाथी तो निकल गया पूछ अटक गयी, ऐसे ही इस धर्मधारण के लिए कितना तो त्याग कर रहे हैं- पूजा करना, भक्ति करना, सत्संग करना, दान देना, दया करना बहुत-बहुत तो काम कर रहे हैं पर एक अपनी पर्याय का ऐसा व्यामोह लगा रक्खा है कि यह मैं हूं कुछ। इस पर्याय को ही माना कि यह मैं हूं। एक इस दुर्भाव में यह ऐसा अटक गया है जो कि व्यर्थ का दुर्भाव था, उसमें ऐसा अटक गया कि जिसका निकाल करना कठिन हो रहा है। अरे अनन्तों भव पाये, उन भवों में से एक भी मन का ठाटबाट न रहा, न एक ही भव का समागम रहा तो इस भव का भी ठाट, इस भव का भी परिचय क्या रह सकेगा? समझ लो, मेरा यह भी भव व्यतीत हो चुका है, अब मैं दूसरे भव में हूं तब इस भव की बात मेरे लिए कुछ न रही।

द्विज महापुरुष के निश्चयप्रतिक्रमण- जो जीवन में भी अपने आपकी पुरानी घटनावों को त्याग देते हैं अथवा पुराने समस्त संस्कारों को हटा देते हैं उन ही पुरूषों को तो द्विज कहते हैं। द्विज मायने साधु, दूसरी बार जन्म लिया है जिसने उसको साधु कहते हैं। पहिला जन्म तो उसने अपनी मां के पेट से लिया था और उस जीवन में परिचयी पुरूषों से स्नेह किया था। द्वेष, विरोध, ईर्ष्या आदि किया था, उनमें अपना नाम चाहा था, ये सारी बातें हुई थीं, अब यदि अपने आपको इस जीवन से मरा हुआ समझ लीजिए, मैं इतने जीवन को खत्म कर चुका हूं, मर गया हूं, अब मैं कल्याण के लिए आत्मसाधना के लिए ही बना हुआ हूं, ऐसे बर्ताव माफिक जिसकी बुद्धि बनी है, पुराने संस्कारों को, पुरानी बातों को, पुराने संकोचों को, पुरानी लाजों को, इच्छा को, इन सबको दूर कर दिया है इस प्रकार का जिसका दूसरा जन्म हो जाता है, एक ही भव में जिसका दूसरी बार जन्म होता है ऐसे साधुसंत पुरुष इस निश्चयप्रतिक्रमण के अधिकारी हैं।

विशुद्ध व्यवहारमार्ग की स्वीकारता- जो निर्दोष सर्वज्ञ भगवान ने मार्ग अपनाया था उसी मार्ग में स्थिर परिणाम जो करेगा सो ही निश्चयप्रतिक्रमणरूप होगा। प्रभु का मार्ग था उनका उपदेश है। अपने आत्मत्त्व का परिचय पावो, सर्व परपदार्थों का विकल्प दूर करके विशुद्ध चित्स्वभाव में अपनी दृष्टि लगावो। वैसी ही रति करो, वैसी ही तृप्ति करो और ऐसे आत्मरमण के पुरूषार्थ से सर्वकलंकों को धो डालो। ऐसा पुरूषार्थ करते हुए में जब तक यह पुरूषार्थ पूर्ण नहीं बन जाता है और उसके बीच-बीच शरीर धर्म भी लगा हुआ है अर्थात् भूख लगे तो भोजन भी देना आवश्यक बन गया है, प्यास लगे तो उसकी भी वेदना शांत करना आवश्यक हो गया है अथवा चलना फिरना विहार करना जरूरी है, एक स्थान पर रहने से रागद्वेष परिचय ये सब बढ़ जाया करते हैं, वह कल्याणार्थी पुरूषों के लिए भली बात नहीं है, इस कारण विहार भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जो वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से विनिर्गत हो मनःपर्याय ज्ञानधारी गणेशों द्वारा प्रकट किया हुआ है ऐसे इस विशुद्ध मार्ग को स्वीकार करना चाहिए।

सन्मार्ग विहार की आवश्यकता- वीतराग परमविजयी भगवान का निर्दिष्ट मार्ग है 5 महाव्रतों का पालन करना, पंचसमितियों का पालन और तीन गुप्तियों का पालन। जिसके विषय में इसके पहिले के अधिकार में विस्तृत वर्णन आया था।

इन तेरह प्रकार के चारित्रों का जो विधिपूर्वक पालन करता है, पंचेन्द्रिय के विषयों का निरोध करता है, अपने आवश्यक कार्य में सावधान रहता है ऐसा पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमण करने का पात्र होता है। निश्चयप्रतिक्रमण के लिए उन्मार्ग का त्याग करना और अहिंसामय सन्मार्ग का स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

निश्चयप्रतिक्रमण में अधिकारी की सहज व्यवहारवृत्तियां- निश्चयप्रतिक्रमण का अधिकारी वह संत है जो शुद्ध व्यवहार मार्ग में भी दक्षता रखता हो। आत्मकल्याण के परम अधिकारी ज्ञानीपुरुष की जो प्रवृत्तियां हैं जिन्हें कि 28 मूलगुणों के आधार से बताया जाता है उन प्रवृत्तियों में जो स्थिर परिणाम करता है वही मनुष्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप होता है। 28 मूलगुण जानबूझकर परिश्रम करके धारण करने की चीज नहीं है किन्तु जिसे आत्मस्वभाव की तीव्र उत्सुकता हो जाती है, ज्ञानस्वभाव की दृष्टि का तीव्र रूचिया हो जाता है उसकी सहज ही ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह हिंसा से सर्वथा दूर रहता है। झूठ से, चोरी से, कुशील से, परिग्रहसंचय से, तृष्णाभाव से अत्यन्त दूर रहता है, यह उसकी सहज वृत्ति बन जाती हैं। मैं मूनि हूं, मुझे झूठ न बोलना चाहिए, मुझे चोरी न करना चाहिए, मुझे पूर्ण शीलव्रत से रहना चाहिए, इस प्रकार के परिणाम से जो ये व्रत आदिक धारण किए जाते हैं वे जान बूझकर जबरदस्ती किए की तरह होते हैं, पर ज्ञानी संत के चूँकि निज सहज स्वभाव में रूचि हुई है और उसके ही अवलोकन का यत्न हो रहा है उसके ये बातें सहज हो जाती हैं।

परमज्ञानी का सहज समितिपालन- परमार्थ ज्ञानस्वरूप का आराधक पुरुष विहार तभी करेगा जब कोई समता का प्रयोजन हो और विहार उसी समय करेगा जिस समय किसी जीव को बाधा न हो सकती हो। वह बड़े शुद्ध भाव से विहार करेगा। लो यह ज्ञानी के सहज व्यवहार प्रवृत्ति बन गयी। इसमें कष्ट का क्या काम है? वह वचन तब बोलेगा जब यह देखेगा कि इस समय स्व और पर के हित के लिए कुछ बोलना आवश्यक है और बोलेगा भी तो हित मित प्रिय वचन। उसकी यह वृत्ति सहजवृत्ति हो गयी है। ऐसे ही आहारपान की समिति, चीजें धरने उठाने की प्रवृत्ति और मलमूत्रादिक क्षेपण की प्रवृत्ति उसके सावधानी सहित हो जाया करती है।

परमार्थज्ञानी का गुप्तिपालन- ऐसा ज्ञानी पुरुष तो मन, वचन, काय के गुप्त रखने का ही किया करता है। मन, वचन, काय की क्रियाएँ न हों, इनमें तरंग न उठे, इन क्रियावों से विराम लेकर शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का ही अनुभव करें ऐसी वृत्ति ज्ञानी के तो प्रमुखता से हुआ ही करती है, क्योंकि वह ज्ञानस्वभाव की उपासना का उद्यमी हुआ है और जब तक मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से विराम नहीं लिया तब तक निष्क्रिय स्वभाव में अर्थात् योगरहित मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति ही उसके असम्भव है। इस कारण साधुसंतों का प्रमुख ध्येय है कि योगप्रवृत्ति को दूर करके योगरहित नीरंग निस्तरंग ज्ञानस्वभाव की उपासना में रहे।

ज्ञानी का विषयवैराग्य- जो पुरुष इस परमार्थ कारणसमयसार का इतना तीव्र रूचिया होता है उसे अन्य विषयों से क्या प्रयोजन होगा? पंचेन्द्रियों के विषयों में छूना, खाना, सूँघना, देखना, सुनना अथवा मन के विषयों में उसकी जागृति नहीं रहती है, प्रवृत्ति नहीं रहती है, जो इन्द्रिय का विजयी है, विषयवासनावों की जहां साधना नहीं है, ऐसा पुरुष ही परमार्थस्वरूप का परमदर्शक होता है।

ज्ञानी के सहज व्यवहार आवश्यक- ऐसा ज्ञानी पुरुष करने योग्य कामों में, प्रभुपूजा, प्रभुवंदन, प्रभुस्तवन में, अपनी प्रतिक्रमण आदिक नित्य क्रियावों में सावधानी आदि में अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। सर्वप्रकार के बाह्य तथा आभ्यंतर समागमों में दृष्टि हटाकर परम उपेक्षा रखकर अंत: स्वभाव की उपासना करना ऐसे इस प्रायोजनिक कल्याण साध सकने में ही उनका समय व्यतीत होता है, ऐसा जिसका व्यवहार शुद्धमार्ग में स्थिर परिणाम है वह ही पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण का पात्र होता है अर्थात् आत्मा में कोई दोष न रह सके, गुणविकास हुआ करे, शुद्ध आनन्द का अनुभव रहे, विकारों का स्वाद न रहे, किन्तु परमार्थज्ञान सुधारस ही स्वाद में रहे ऐसा उपाय ऐसे संत कर सकते हैं।

परमात्मतत्त्व की स्थिरता में निश्चयप्रतिक्रमण- परमार्थज्ञाता संत इस उपासना के अभ्यास से व्यवहार सन्मार्ग की प्रवृत्तियों के प्रसाद से निज कारणपरमात्मतत्त्व में स्थिर भाव किया करते हैं। नीरंग, निस्तरंग शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र नि:शंक आत्मतत्त्व में उनका उपयोग स्थिर हो जाता है। वह ही तो साक्षात् निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है। यह परमात्मतत्त्व जो अपनी उद्‌दण्डता समाप्त

करने से स्वयं में दर्शन दिया करता है यह कारणसमयसार सहजज्ञान सहजदर्शन सहजचारित्र सहजश्रद्धान सहजस्वभाव से अलंकृत है, यह किसी भी तरंग द्वारा नष्ट नहीं होता है, किन्तु निष्तरंग रूप तरंग में यह अपनी झलक देता है।

ज्ञानी की अध्यात्ममार्ग में प्रतिक्षण प्रगति- यह स्वभाव, यह परमात्मतत्त्व, यह समयसार यह आत्मा जो पदार्थ है और जितने पदार्थ होते हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक होते हैं। इस परमात्मपदार्थ का यह सामान्यविशेषात्मक तत्त्व सहज चैतन्यस्वभाव में विराज रहा है। कैसा आत्म वैभव है यह? जाननहार ही जान सकता है। इसकी जो लोग उपासना रखते हैं उनके यह स्वभाव का दर्शन पुष्ट होता है। जैसे पहलवान लोग रोज दंड बैठक व्यायाम किया करते हैं। उन्हें कभी यह आलस्य नहीं आता कि वैसी ही दंड बैठक तो कल किया था, कोई नई चीज आज नहीं करना है, सो दंड बैठक करके क्या करना है, ऐसा आलस्य उनके नहीं आता है। उन्हें तो उत्सुकता होती है। वे तो जानते हैं कि रोज-रोज दंड बैठक करने से स्वास्थ्य बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है, ऐसे ही अध्यात्म सुभट एक बार जान गया वह आत्मा का मर्म, आत्मचित्प्रकाश। तो अब उसका यह जानना उसकी और रूचि बढ़ाता है। इसही शुद्ध ज्ञानप्रकाश की उपासना में, अवलोकन में, यत्न में और उत्सुकता बढ़ाता है। इसे अभी मिलने को बहुत कुछ पड़ा है। हो गया यह ज्ञानी, जान गया आध्यात्मिक रहस्य, लेकिन अभी पाने की बात बहुत पड़ी हुई है। कर्मों का क्षय अभी बहुत होना है, यह अभी यहां नहीं कह रहे, वह तो आनुसंगिक परपदार्थ में होने वाला कार्य है, पर इस अध्यात्मयोगी को अध्यात्म में ही बहुतसा लाभ पाने को पड़ा हुआ है। वह निरूत्साह नहीं होता है अध्यात्ममार्ग में प्रगति करने के लिए।

निष्पक्ष तत्त्व की ओर आकर्षण- यह ज्ञानीपुरुष सामान्य विशेषात्मक निज परमात्मद्रव्य में उपयोग द्वारा स्थिर परिणाम करता है। यही हुआ शुद्धचारित्र। जो अपने आपको शुद्ध चारित्रमय करता है वही मुनि तो निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है। जैसे लोक में देखा होगा कोई पुरुष जब तक किसी का पक्ष कर रहा है तब तक उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। भले ही कुछ लोग जिनको इस पक्ष में रौद्रध्यान बना है वे गुण गायें, किन्तु वे तो स्वयं पतित हैं, मोही हैं, मायामूर्ति हैं उनके द्वारा गुणगान किये जाने से कौनसा लाभ हुआ? वह भी एक अँधेरा है। जब वह पुरुष पक्षपात से रहित न्यायवृत्ति वाला होता है तो चूँकि वह न्यायमूर्ति बना है इस कारण सबका इस ओर आकर्षण होता है। भले ही स्वार्थमयी दुनिया में स्वार्थ सिद्ध न होने से उसका व्यवहारिक आकर्षण न हो किसी का, लेकिन जानते सब हैं उसकी महिमा को, उसके गुणों को। अन्तर में नियम से सबका आकर्षण उस न्याय मूर्ति पुरुष की ओर होता है। ऐसे ही जब तक कोई साधु अपनी किसी बाह्यप्रवृत्ति में, बाह्यदृष्टि में धरना, उठाना, चलना आदिक क्रियावों में ही दृष्टि रखता है, पक्ष रखता है तब तक उसकी ओर सम्यग्दृष्टि का आकर्षण नहीं होता है। विवेकी पुरुष साधुवों की चाम को नहीं पूजते हैं, साधुवों की बाहरी क्रियावों को नहीं पूजते हैं किन्तु इस आत्मा ने इतनी विषयकषायों से पृथक दृष्टि रखी है? केवल एक ज्ञानप्रकाश के अवलोकन में ही रत रहा करता है यह। उनके लिए दुनिया के लोग न कुछ हैं और अपने लिए वे सब कुछ है। इस प्रकार निरखने से ज्ञानियों का आकर्षण होता है।

निश्चयचारित्र में निश्चयप्रतिक्रमण- अन्तस्तत्त्व के साधक साधु निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं क्योंकि वे तपस्वी साधु निश्चयप्रतिक्रमण रूप परमतत्त्व को प्राप्त हुए है। सो गुणविकास के रूप में महंत पुरूषों के द्वारा वे आराधित होते हैं। जिस चारित्र में उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्ग रहते हुए भी उत्सर्ग मार्ग की जहां उपासना बनी रहती है ऐसा यह निश्चयचारित्र परमार्थचारित्र मोक्षमार्ग ज्ञानी संतों के द्वारा उपासनीय है। ज्ञानी पुरुष इन समस्त बाह्य पदार्थों से यहां तक कि व्यवहार धर्म की क्रिया से भी निवृत्ति पाकर अन्तर में एक विशुद्ध चित्प्रकाश का अवलोकन करता है, जिस प्रकाश के अवलोकन से ये साधु संत उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। शुद्धप्रकाश दृष्टि में रहा करे, ऐसी भावना ज्ञानी पुरूषों के बनी रहती है।

उत्कृष्ट तत्त्व का निर्णय- हे मनुष्यभव से अनुपम लाभ उठाने वाले संत पुरूषों ! तुम्हें क्या चाहिए? सर्वोत्कृष्ट बात का तो निर्णय कर लो, जिससे आगे कुछ भी उत्कृष्ट न हो, ऐसी बात तो सोच लो तुम्हें क्या चाहिए? ये ईंट पत्थर, मकान ये क्या तेरी दृष्टि में होने वाली उत्कृष्ट चीजें हैं? क्या है उनमें जड, भिन्न असार हैं, तेरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है जिनका, तू अपने स्वरूपमय है, तू अपने चैतन्यस्वभाव की वृत्ति में तन्मय है, वह तुझसे अत्यन्त विमुख है, वही तेरे लिए उत्कृष्ट पदार्थ है। ये धन वैभव सम्पदा क्या हैं? एक मोह की नींद का स्वप्नमात्र है। तेरे ज्ञानतत्त्व से इसका क्या सम्बन्ध है? ये परिजन, वैभव, कुटुम्बजन ये क्या तेरे लिए उत्कृष्ट हैं, तेरे लिए देवता हैं क्या? भगवान हैं क्या, ये तुम्हारी मदद कर सकेंगे क्या?

इनका लोग क्यों आकर्षण करते हैं? सर्वोत्कृष्ट तत्त्व का निर्णय तो करो, वह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है अपने आपका सहजचित्स्वरूप, जो बाह्य वृत्तियों के विकल्प तोड़ देने से दृष्टि में आता वह सहज परमप्रकाश मेरे में सर्व ओर से स्थित हो।

सर्वसमृद्धि के अधिकारी- जो पुरुष इन्द्रिय के विषयों के सुख से विरक्त हैं, जिनका अनुराग स्वत:सिद्ध सहजसिद्ध एक चित्प्रकाशस्वरूप प्रतीति रखने में ही बना रहता है। यदि कुछ करे बाहर तो जिसकी वृत्ति तप स्वाध्याय की ही हुआ करती है। ज्ञान की मस्ती से जो सदा प्रसन्न रहा करते हैं, शुद्ध आशय हो जाने के कारण जिनके गुणों का विशुद्ध विकास हुआ करता है जिन्हें कोई संकल्प विकल्प उपद्रुत नहीं करते हैं ऐसे पुरुष सर्व समृद्धि के अधिकारी क्यों न होंगे? यह है निश्चयप्रतिक्रमण का साक्षात् स्वरूप।

गुणातिशयलब्धि- निश्चय प्रतिक्रमण में दोषों के दूर होने से गुणों का अतिशय प्रकट हुआ है। यह गन्ना ही तो योग्य विधि से मिश्री बन जाया करता है। उसका रस निकलने पर मिश्री का स्वाद प्रकट नहीं है। क्यों नहीं प्रकट है कि उसमें दोषों का निवास है। रस के उन दोषों की शुद्धि के लिए गरम कड़ाही में आंचा जाता है, संतप्त किया जाता है, ताप से तपाया जाता है तब उस रस के बहुत से दोष भाप के रूप में झड़ने लगते हैं, बहुत से दोष मिठाई के दोष निकल जाने से अब वह गुड़ का रूप रखने लगता है। अब उस ही गुड़ को राब को और विधियों से निर्दोष किया जाता है तब वह शक्कर का रूप रख लेता है। शक्कर का सीरा करके उसके बहुत से दोष जब और निकल जाते हैं- दोष निकल जाने के साधन जैसे दूध है अथवा चूना का पानी है ऐसे दूध को उस सीरे में डालकर उसके अवगुणों को फाड़कर बाहर कर देते हैं तब वह चीज बनकर मिश्री बन जाती है। दोषों के दूर होने से जैसे इस मिश्री में ऐसा गुण प्रकट हुआ है, यों ही जानो कि आत्मा में बसे हुए दोषों के दूर किए जाने से ही आत्मा का गुणविकास होता है। पूर्ण अतिशयवान् हो जाता है यह।

परमार्थप्रतिक्रमण का प्रसाद- केवलज्ञानी कोई हुआ है तो बाल बच्चे घर गृहस्थी में मिल करके हुआ है क्या? उसे तो इस सारे रागद्वेष मोह को सर्वथा दूर करने के उपाय से ही परमोत्कृष्ट, परमाराध्य सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त हुई है। यह सब परमार्थप्रतिक्रमण का परम प्रसाद है। ऐसे इस निश्चयप्रतिक्रमण के स्वरूप में यहां यह कहा गया है कि जो पुरुष उन्मार्ग को छोड़कर जैनमार्ग में स्थिर भाव को प्राप्त होते हैं, जिस मार्ग से चलकर प्रभु जिनेन्द्र हुए हैं उस मार्ग में ही जो अपना यत्न रखते हैं, साक्षात् प्रतिक्रमण स्वरूप वे संत शाश्वत परमशान्ति प्राप्त करते हैं। ऐसे परमार्थप्रतिक्रमण की उपासना भावना और प्रयोग करना हम लोगों का लक्ष्य होना चाहिये और इसका यत्न होना चाहिए।

गाथा ८७

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८७।।

नि:शल्यता में ही परमार्थप्रतिक्रमण- जो साधु शल्यभाव को छोड़कर नि:शल्यभाव में प्रवृत्त होता है वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि उस काल में वह प्रतिक्रमणभावमय है। प्रतिक्रमण का अर्थ है लांघ जाना। जो गड्ढा है, दोष है, कुपथ है, अहित की चीज है उसको लांघ जाना, उससे दूर हट जाना। किसी भी वस्तु के लांघने में दो किनारे होते हैं, बीच में वस्तु है, यहां भी बहुत दोष किए थे। सो वह दोषी किनारा पहिले का भाव था अब उस भाव से हटकर सब दोषों को लांघ रहा है और निर्दोष तट पर पहुंच रहा है। ऐसा प्रतिक्रमण, जो अतीत दोषों को दूर कर दे तथा निर्दोष निज परमार्थ स्वभाव में ठहरा दे वह प्रतिक्रमण ऐसे ही संत पुरुष के होता है जो शल्य भाव को छोड़कर नि:शल्य स्वरूप में पहुंचता है।

तीन शल्य- शल्यभाव अनेक होते हैं। जिनको संक्षेप में विचारो तो तीन हैं- माया, मिथ्या और निदान। माया में छल कपट का परिणाम आता है। चित्त में कुछ और है? वचन में कुछ और कहा जा रहा है, यह शल्य परिणाम है। मायाचार रखने वाले पुरुष रात दिन चिंता, शोक, भय, शंका में पड़े रहते हैं। जिनका चित्त मायाचार से वासित है उनमें धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है।

माया शल्य के परिहार में प्रतिक्रमण- भैया ! अपने जीवन में सरलता का गुण लायें उससे लाभ है। मायाचार किया जाता है किसी परवस्तु के लाभ के लिए या अपने किसी बड़प्पन के लिए। सो कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीव का हित

करने वाला हो? मरने पर तो कुछ साथ जायेगा नहीं, यह तो निश्चित ही है, किन्तु जीवन काल में भी किसी भी परपदार्थ से अपने को लाभ नहीं है। लाभ तो शांति का नाम है। जहां शांति और संतोष रहे वह है लाभ का पद। किन्तु परिग्रह की दृष्टि में परिग्रह के आकर्षण में इस जीव को चिंताएँ ही बढ़ती हैं। जहां अशांति हो वह क्या लाभ है। और मान लो कल्पित मौज का भी लाभ है तो आंखें मिचीं मृत्यु हुई, वियोग हुआ कि सब खत्म। इससे मायाचार का परिणाम रखना बिल्कुल व्यर्थ है। जैसा हृदय हो तैसा वचन हो। लोगों ने तो बिना ही प्रयोजन आदत सी बना ली है मन की बात नहीं कहने की, सीधी ही बात हेर फेर कर कहा करते हैं लोग, कुछ रौद्र ध्यान जैसा उन्हें मौजसा आता है। मायाचार से वासित हृदय में शांति, धर्म, संतोष, ज्ञान इनका प्रवेश नहीं होता है। इसलिए जो माया शल्य को त्यागकर निशल्यभाव में स्थिर होता है उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण हो सकता है अर्थात् धर्म की गति हो सकती है।

मिथ्याशल्य के परिहार में प्रतिक्रमण- जो मिथ्याभाव करके सहित हैं वह तो साक्षात् अज्ञानी ही है। परवस्तु को अपनी समझना, श्रद्धा में ऐसा रखना कि अमुक जीव, अमुक पदार्थ, अमुक सम्पदा ये सब कुछ मेरे ही तो हैं, अपने आपका ऐसा विश्वास रखना, मिथ्याश्रद्धान् रखना यही अज्ञान की जड़ है। मिथ्या आशय वाले हृदय में शांति का प्रवेश नहीं है। यह मान रहे हैं परपदार्थ को अपना और वह परपदार्थ अपना समय पाकर आयेगा जायेगा, परिणमेगा, यहां मान लिया अपना, सो अपनी इच्छा के माफिक परिणमें तब तो मौज मानेगा। इच्छा तो इसकी यह है कि सम्पदा मेरे पास सदा रहे, इच्छा तो यह है कि यह मेरा देह सदा बना रहे, इस लोक में मैं बड़ा प्रतिष्ठित होऊँ, सर्वप्रमुख बनूँ, परन्तु किसी परपदार्थ के परिणमन पर अपना अधिकार क्या हैं? विरूद्ध परिणमन देखते हैं तो दु:खी हो जाते हैं। यह क्लेश मिथ्या आशय के कारण ही तो है। कैसी भी कठिन परिस्थिति आए, मान लो बहुत सा धन बरबाद हो रहा है, अथवा घर के कुछ लोगों का वियोग हो रहा है कुछ भी कठिन स्थिति आए, जो सावधान रहेगा, अपने को सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने स्वरूपास्तित्त्वमात्र आकिन्चन्यमय देखेगा उसको आकुलता नहीं आ सकती है। दूसरे लोग कैसे सहाय हो सकते हैं? मिथ्या आशय छूटे तो इसे शांति का रास्ता मिले। मिथ्याआशय से कभी भी शांति नहीं आ सकती। जो मिथ्याशल्य का त्याग करे, और नि:शल्य भाव में परिणमे उसकी ही धर्म में प्रगति है। परमार्थप्रतिक्रमण है।

निदान शल्य में संताप- एक शल्य है निदान। प्राय: लोग इस निदान शल्य में अन्य शल्यों की भांति निरन्तर रहा करते हैं। विषयभोगों की चाह करना, धर्मधारण करके इन्द्रादिक पदवियों की चाह करना, धन सम्पदा बढ़ाना आदिक किसी प्रकार की चाह बनाये रहना यह तो शल्य ही हैं ना, क्योंकि आत्मा का स्वरूप तो निष्काम है, कामनारहित है, उस स्वरूप के विरूद्ध जहां कामना की, इच्छा बढ़ायी, विषयों की रूचि की तो ऐसा कदम ही आकुलतामय हैं।

सुरक्षित क्षेत्र के अपरित्याग की भावना- जैसे कभी सावन के महीने में घोर वर्षा हो रही हो, बिजली भी कड़क रही हो, कहीं-कहीं बिजली भी गिरती हो ऐसे समय कोई पुरुष अच्छे कमरे में बैठा हो तो जब वह कमरे में है तब वह सुरक्षित है, कमरे से बाहर गया तो अब उसकी रक्षा खतरे में है, विपदा में है। ऐसे समय में एक सुरक्षित कमरे में बैठा हुआ पुरुष कभी यह चाह नहीं करता कि मैं बाहर में दौड़ूँ खेलूँ, कूदूं, ऐसे ही इस जगत् में घनघोर विपत्तियों की वर्षा है, लोगों के प्रतिकूल परिणमनों की बिजली कड़कती है, यहां कल्पनावों के कारण नाना क्षोभ बन जाते हैं ऐसे समय में कोई पुरुष सुभवितव्यवश इन सब संकटों से रहित ज्ञान का प्रकाशमात्र आत्मा के दृढ़ किले में बैठा हो और वहां जिसने अपना सहज सुगम सत्य आनन्द पाया हो वह पुरुष यह नहीं चाहेगा कि मैं बाहर घूमूँ। अपने आत्मस्वरूप से बाहर कभी दृष्टि लगाऊँ।

निदानरहित भाव में प्रतिक्रमण- बाहर कहीं दृष्टि लगाना, किन्हीं वस्तुवों की चाह करना यही तो निदान है। निदानग्रस्त पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण का अधिकारी नहीं है। निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप वही तपस्वी है जो नि:शल्य भाव में रह रहा है, परम विश्रामरूप ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति जिसे प्राप्त हुई है ऐसा महान् तपस्वी पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है।

आत्मविकास- निश्चय से देखा जाय तो हम आप सब आत्ममावों में यह निशल्यस्वरूप परमात्मा शाश्वत विराजमान है। मोक्ष होने पर कोई नई चीज नहीं मिल जाती है। नई चीज का मिलना तो क्लेश का ही कारण है। दूसरी चीज का सम्बन्ध तो क्लेश ही पैदा करता है। मुक्त जीवों को कहीं दूसरी चीज नहीं मिल जाती है या कुछ वह अपना स्वरूप तजकर दूसरा नहीं बन जाता है। मुक्ति में वही स्वरूप है, बल्कि यहां बहुत सी चीजें तो मिली हुई हैं उनको और खो देना पड़ता है। तो जो मिले

हैं, जिनसे हम बड़े बन रहे हैं बोझल भारी, संसारसमुद्र में डूब रहे है उन सब परवस्तुवों को, कलंकों को, परभावों को और मिटाना है। मुक्त अवस्था तो आत्मस्वरूप की शुद्ध हालत है। केवल आत्मतत्त्व जैसा है स्वत:सिद्ध अपने स्वरूप के कारण बस वह प्रकट हुआ है इसी के मायने हैं मुक्त अवस्था। मोक्ष में कहीं और कुछ नई बात नहीं आती। जो है वही यथार्थ रूप में प्रकट हो गया, इसी का नाम निर्वाण है। आत्मतत्त्व तो विशुद्ध कारणसमयसार स्वयं ही है।

व्यवहारदृष्टि में शल्यव्यन्जना- अब जरा अपने स्वरूपमात्र की दृष्टि न रखकर कुछ अगल-बगल झांकियेगा तो यह हो गयी व्यवहार की दृष्टि। अब व्यवहार की दृष्टि में निरखते है तो यह तो बड़ा दंदफंदी हैं, कर्ममल कलंकों से बसा हुआ है, शरीर से घिरा हुआ है। रागादिक विभावों से मलीमस्त हो रहा है, इस ही दृष्टि में देख लीजिए ये तीन शल्य उद्‌दण्डता मचा रही है- माया, मिथ्या और निदान। तो ये शल्य व्यवहार दृष्टि में हैं, पर के सम्बन्ध से हैं इस कारण औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं हैं।

प्रतिक्रमण की स्वरूपगतता- तीनों शल्यों को छोड़ करके जो परम नि:शल्यस्वरूप, केवलज्ञान प्रकाशमात्र, शरीर का भी जहां अवलोकन नहीं है, ऐसे शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व में जो योगी ठहरता है वह योगी ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है क्योंकि उस योगी के ही वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। यह प्रतिक्रमण कहीं परवस्तु से नहीं लाना है, किन्तु अपने स्वरूप में अपनी ही स्वभावपरिणति से प्रकट होता है। जैसे व्यवहार के दण्ड का सम्बन्ध परवस्तु से भी होता है जैसे आचार्य ने साधु को दण्ड दिया कि तुम गरमी में बालू की रेत पर दो घंटे ध्यान लगावो। हुआ न पर का सम्बन्ध? नदी के किनारे ध्यान लगावो, हुआ न इसमें पर का सम्बन्ध? अच्छा, उपवास कर लो इसमें भी हुआ न पर का सम्बन्ध? इसमें क्या हुआ? अरे आहार ही तो छोड़ा, पर का सम्बन्ध कैसे हुआ? अरे मैं आहार छोड़ूँ, उपवास करूँ, इस प्रकार की कल्पना का होना पर का सम्बन्ध ही तो है। इस निश्चयप्रतिक्रमण में न परवस्तु का सम्बन्ध है, न कल्पना का सम्बन्ध है किन्तु केवल परमार्थ आत्मस्वरूप ही दृष्ट हो रहा है। यह है उन दोषों को निराकृत करने के लिए परमार्थ दण्ड, परमार्थप्रतिक्रमण।

परमार्थ के अपरिचय में परमार्थतपश्चरण की दुर्गमता- जैसे मोही पुरूषों को भोगों का भोगना, भोगों के साधन मिलाना बड़ा आसान लग रहा है और त्याग करना भोग छोड़ना यह कठिन मालूम होता है, इसी प्रकार अज्ञानी किन्तु बड़े व्रत तपस्या में रहने वाले बाह्यत्यागीजन जिन्हें आत्मा के स्वत:सिद्ध स्वरूप का परिचय तो मिला नहीं है लेकिन धर्म की एक धुन छायी है, सो ईमानदारी व्रत कर रहे हैं तपस्या कर रहे हैं, ऐसे इन पुरूषों को ये अनशन आदिक बड़ी ऊँची तपस्याएँ रेतों में तपना, जाड़े में नदी के किनारे तप करना और-और भी बड़े-बड़े संकट झेलना ये व्रत तपस्याएँ उन्हें सरल मालूम होती हैं, इनको वे उत्साह से आसानी से कर लेते हैं, किन्तु एक यथार्थस्वरूपदृष्टिरूप निश्चयप्रतिक्रमण उन्हें कठिन लगता है। इसी कारण इस परमार्थस्वरूप के ज्ञाता रहने को परमतपश्चरण बताया गया है।

शुद्धात्मभावना के अर्थ अनुरोध- जो साधु इस शल्यभाव को तजकर परमार्थ नि:शल्यभाव में परिणत होता है उसके ही वास्तविक निश्चयप्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण स्वरूपगत है, पर के अवलोकन से रहित है, अपने स्वरूप में अपने स्वरूप के दर्शन से प्रकट होता है। ऐसा परमार्थप्रतिक्रमण जिन साधुवों को विकसित होता है, वे संसार के समस्त संकटों को तजकर नि:संकट अनन्त आनन्दमय परमनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। विवेकी वही है जो इन तीन शल्यों को छोड़कर नि:शल्य जो निजपरमात्मस्वरूप है, अपने आप अपनी सत्ता के कारण जो प्रकाशमात्र है उस स्वरूप में ही जो अपने को देखता है और इस ही प्रकार उस अविकाररूप परिणमता है वही तो विवेकी है। विवेकी पुरुष उन तीनों शल्यों को छोड़कर नि:शल्य परमात्मस्वरूप में ठहरे और सदा अपने आपके शुद्ध आत्मा के रूप में भावना करे।

भावनानुसार लाभ- भैया ! सब कुछ भावना से मिलेगा। चिंता की बात नहीं है। दुविधा में मत पड़ो। कैसे कल्याण होगा? इसकी आशंका में न आइए। भगवान जिनेन्द्रदेव इस ही मार्ग से संसार संकट से तिरे हुए हैं जिस मार्ग को यहां परमार्थप्रतिक्रमण के प्रसंग में कहा जा रहा है। एक शुद्ध आत्मा की भावना बनावो। कौनसा कष्ट है शुद्ध आत्मा में? जैसे लोग अपने को ऐसा ध्यान में बनाये रहते हैं कि मैं अमुक मल हूं, अमुक चंद हूं, अमुक प्रसाद हूं, ऐसे ही बहुत से लोग ऐसी भावना बनाते हैं कि मैं इतने बच्चों वाला हूं, मैं स्त्री वाला हूं, मैं इतनी जायदाद वाला हूं, जैसे यह भावना बनाये हैं ना तो वहां भी भावना ही तो बनायी। मैं पुष्ट हूं, गोरा हूं, सांवला हूं, लम्बा हूं, ठिगना हूं, भावना ही तो बना रहा है यह जीव। मैं बड़ा चतुर हूं। इन सब लोगों में बड़ी अपनी बुद्धि का प्रदर्शन करने वाला हूं, ऐसी ही कुछ भावना ही तो यह बनाता है। अरे ये सब भावनाएँ संसार

वृद्धि की ही कारण हैं। बजाय इन भावनावों के यह भावना करो कि मैं शरीर से भी विविक्त अकिन्चन समस्त परपदार्थों के सम्बन्ध से रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं।

शुद्धात्मभावना का उत्साह- भैया ! अपना स्वरूप सोचने में कुछ तकलीफ हो रही है क्या? हां उनको तकलीफ हो रही होगी जिनका उपयोग मोह में दूषित है, हृदय में तो वही मोह का उपयोग पड़ा हुआ है, वही विष भरा हुआ है, ऐसी अपवित्र भूमि में इस पावन भावना का प्रवेश कहां हो सकता है? हां जरा अपने आप पर करूणा करो और एक ही झटके में उन समस्त विभावों को झटक दो। एक दो सेकेण्ड सर्व पर को भूलकर केवल अपनी सही बुद्धि में आइए तो कौनसा बिगाड़ हो जाता है? अरे बाहर में कोई साथी न होगा, कोई शरण नहीं है। कोई शरण हो ही नहीं सकता। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि मैं केवल अपने आपमें ही कुछ अपना कर सकता हूं। दूसरे वे अपने आपमें ही अपना कुछ कर सकते है। कहां आशा रखते हो, किसकी ममता रखते हो, क्यों उपयोग में बैठाए हो कि यही मेरा सर्वस्व है? तू इस देह से भी न्यारा है, देह भी तेरा नहीं है। तब ऐसी विशुद्ध ज्ञानमात्र रूप अपनी भावना तो बनावो। इस भावना से ही संसार संकटों से पार हो सकते हो।

सुगम स्वाधीन सहज स्वसाधना- भैया ! नहीं हो सकता है बड़ा ऊँचा तपश्चरण का काम, नहीं कर सकते हो बड़ी धूप ठंड भूख प्यास का सामना तो न करिये, किन्तु जो केवल भावना के ही द्वारा साध्य है ऐसे इस निज सहजस्वरूप का दर्शन न भी किया जाय तो यह तो खेद की बात है। इस नरजीवन की सफलता पाना है तो इन सब माया मूर्तियों की दृष्टि को त्यागो। अपने आपको शुद्ध आत्मा के रूप में भावो। इस भावना के प्रसाद से शल्यों को तजकर नि:शल्य स्वरूप में आकर अपने को कार्य परमात्मा के रूप में प्रवृत्त कर सकते हैं। जो इन तीनों शल्यों को तजकर नि:शल्य परमात्मस्वरूप में स्थित होकर अपने आपको शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र रूप में ही भाता है वह नियम से सारे दु:खों से दूर होकर विश्व में सबका ज्ञाताद्रष्टा रहकर अनन्त आनन्दमय होगा।

शल्यभाव को छोड़कर नि:शल्यभाव में आने का अनुरोध- माया, मिथ्या और निदान- इन तीन शल्यों की दाह से यह मोही जगत जला जा रहा है। यथार्थस्वरूप का परिचय न होने से यह शांति की ओर जा ही नहीं पाता। हे कल्याणार्थी पुरुष ! ऐसे चित्त को तू शांत कर, अर्थात् इस चित्त को परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्व की ओर ले जाइये, जिस उपयोग में रहकर फिर यह चित्त निश्चेष्ट हो जायेगा, शांत निश्चेष्ट भाव में स्थित। जैसे समुद्र में तरंगे उठ रही हैं तो उस समुद्र को अशांत कहते हैं। तरंगे न रहें, निश्चेष्ट हो जाय तो उसे शांत कहते हैं। यह चित्त परमार्थस्वरूप ज्ञानानन्दमात्र अन्तस्तत्त्व में जाय तो उस उपयोग में ये विकल्प सब शांत हो जाते हैं। अशांतमय चित्त, विकल्पमय उपयोग संसारभ्रमण का ही कारण है। जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इन छहों शत्रुवों से आक्रांत है, जो कषाय के तरंगों से रंगा हुआ है, जिसमें शुद्ध सहज स्वच्छ स्वभाव का दर्शन नहीं हो पाता है ऐसे चित्त को शांत कर, ऐसे विकल्पभाव को तू छोड़ दे और स्वभाव नियत, अपने आपके स्वरूप के कारण जो शाश्वत् अन्त:प्रकाशमान् है ऐसे कारणसमयसार की ओर अपना उपयोग दे।

गाथा ८८

चत्ता हयगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उन्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८८।।

सुगुप्त आत्मा के परमार्थप्रतिक्रमण- जो साधु अगुप्ति भाव को त्याग करके तीनों गुप्तियों से सुरक्षित है वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि उस समय उसका भाव अभेदप्रतिक्रमणमय हो रहा है। गुप्त का अर्थ लोक में छुपाना प्रसिद्ध है, इस बात को गुप्त रक्खो, यह रहस्य गुप्त है ऐसा कहने पर लोग गुप्त का अर्थ छुपाना करते हैं, किन्तु गुप्त का अर्थ छुपाना नहीं है, इसमें गुप् धातु है जिसका अर्थ है रक्षण, गुप् रक्षणे। इस बात को गुप्त रखना, इसका अर्थ है इस बात को सुरक्षित रखना। कहीं यहां वहां फैलकर बात छिन्न भिन्न न हो जाय, ज्यों का त्यों हृदय में सुरक्षित बना रहे यह अर्थ है गुप्त का। अपने आत्मा को गुप्त करो अर्थात् सुरक्षित करो। अगुप्त भाव का परिहार करो- अरक्षित तत्त्व का त्याग करो। यह आत्मा मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के कारण अरक्षित है, क्योंकि आत्मा विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है उसका विकास इन दण्डों के कारण नहीं हो पाता।

मनोदण्ड से आत्मा की असुरक्षितता- इस संकल्प विकल्प ने इस ज्ञानानन्दस्वरूप का घात किया है। अब यह आत्मतत्त्व स्वभाव के अनुकूल न विकसित हो सका। बड़े-बड़े पुरूषों को, देवी देवतावों को, भोगभूमिया के सुखी जीवों को मन का ही तो क्लेश बढ़ा हुआ है। जो लखपति, करोड़पति वैभवशाली हैं, राजा महाराजा हैं उन्हें क्या तकलीफ है? न भोजन की तकलीफ, न ठंड गरमी का कष्ट, किन्तु मन के विकल्प दौड़ते रहते हैं कि मैं इन सबका सिरताज कहलाऊँ। और जैसी कल्पना करते तैसा होता नहीं है तब दु:ख मानता है और हो जाय तो खुशी के मारे विह्वल हो जाता है। लोग सोचते हैं कि मैं दुनिया में सिरताज कहलाऊँ, इसका अर्थ है कि मैं मूढ़ों में प्रमुख कहलाऊँ, मूढ़ों का राजा कहलाऊँ। भाव उसमें यह है कि उसने अपने में मलिनता ही बनायी, अपने को अपवित्र ही बनाया। मन के संकल्प विकल्प से तो यह आत्मा अरक्षित हो जाता है। अगुप्त हो गया अब।

वचनदण्ड व कायदण्ड से आत्मा की अरक्षितता- वचनों के अनाप सनाप बोलते रहने से भीतरी वज़न कम हो जाता है। भीतर में जो धीरता का भाव बना हुआ था, जो गम्भीरता बनी हुई थी, आत्म विश्राम की ओर जाने की पात्रता हुई थी वह अधिक बोलने के कारण नष्ट हो जाती है। यह आत्मा जब अगुप्त हो जाता है अथवा खोटे वचन निकल जाते हैं तो खूब दण्ड मिलता है, खूब ठुकाई पिटाई हो जाती है। जेल में बंद होना पड़ता है या यह भी न हुआ तो पडौसियों की निगाह से गिर जाना पड़ता है। इस वचनदण्ड से भी आत्मा अरक्षित है, काय की प्रवृत्ति से भी आत्मा की अरक्षा है।

त्रिगुप्त के परमार्थप्रतिक्रमण- मन, वचन, काय की क्रियावों का परिहार हो जाय और यह अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूप में उपयोगी रहा करे, यह रक्षा है। यह वास्तविक आत्मा की गुप्ति है। जो साधु अगुप्तिभाव का परिहार करके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित हो जाता है वह साधु साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप में स्थित होता है। यही निश्चयचारित्र का स्वरूप है। निश्चयचारित्र में प्रतिक्रमण सहज भरा हुआ है, या यों कह लीजिए कि इन तीनों गुप्तियों से गुप्त पुरुष के परमनिश्चयचारित्र होता है अथवा यों कह लो कि परमार्थप्रतिक्रमण होता है। दोनों का लक्ष्य शुद्धतत्त्व की ओर है। यह परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूप साधु परमतपस्वी है। त्रिगुप्ति धारण किए बिना मन:पर्ययज्ञान प्रकट नहीं हो सकता, विशुद्ध अवधिज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

परमतपश्चरण और अपूर्व ध्यान- जो मुनीश्वर परमतपश्चरण रूप कमल के पुष्पों को विकसित करने के लिए प्रचण्ड सूर्य की तरह हैं, जैसे सूर्य के उदय होने पर ये कमल विकसित हो जाते हैं इसी तरह जिन मुनीश्वर के इस परमपारिणामिक भाव के अवलम्बनरूप से परमतपस्या विकसित हो जाती है ऐसा यह आसन्न भव्य मुनीश्वर बाह्य प्रपंचों को त्यागकर अर्थात् मन, वचन, काय के विस्तार का परिहार करके यह अपूर्व आत्मा का ध्यान करता है अर्थात् जिस प्रकार से उस आत्मा को अब तक कभी नहीं देखा था, ऐसे सहज स्वभावमय रूप में अपने आत्मा का ध्यान करता है।

समताभाव में अपूर्व आत्मध्यान और निश्चयप्रतिक्रमण- आत्मा का अभेद ध्यान परमसमताभाव के बिना नहीं हो सकता। जब तक राग और द्वेष बसे रहेंगे तब तक इसका लक्ष्य भिन्न परविषयों की ओर रहेगा, जब बाह्य की ओर उपयोग है, संकल्प विकल्प में उपयोग व्यस्त है वहां इस ज्ञानानन्द स्वरूप सहज चित्स्वभावमात्र आत्मा की दृष्टि कहां हो सकती है? अब यह आत्मा मन, वचन, काय को वश करके संकल्प विकल्प से रहित होकर मात्र ज्ञातादृष्टा रहता है उस समय वह महात्मा इस अपूर्व आत्मतत्त्व का दर्शन करता है। जो मुनीश्वर इस आंतरिक परमतपस्या से बाह्य प्रपंचों को तजकर समाधिबल से सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का अवलोकन करता है वह परमसंयमी निश्चयप्रतिक्रमणमय है।

असमाधिभाव में कल्याण का अभाव- यह परमार्थप्रतिक्रमण का प्रकरण है। इसमें दोषों का परिहार करके गुणों के विकास की कथनी की जा रही है, जिन्हें दूर करना है। उनमें उपेक्षा न आये तो दूर कैसे हो सकते हैं। जैसे घर के बूढ़े बाबा बहुत अपने पोतों को खिलाते हैं तो वे ही पोते उस बूढ़े के सिर पर चढ़ते हैं। तो इस आफत को किसने डाली? अरे उस बूढ़े बाबा ने स्वयं ही यह आफत अपने ऊपर डाल ली। अब अगर वे बूढ़े बाबा उन पोतों को मार दें तो कहो रोटियां भी न मिलें। अरे न करते पहिले से स्नेह तो ये आफतें, ये बवाल न आते। यह जीव भिन्न विषयवासनावों को अपनाता है, इसके फल में इसकी बरबादी होती है, अरक्षा है। जब तक उन दोषों से उपेक्षा न करें तब तक गुणों की ओर प्रीति नहीं हो सकती है। जो विषयभावों से, कषायपरिणामों से अपनी प्रीति बनाये रहते हैं उनको इनके सम्बन्ध में यह ध्यान भी न आ सकता कि ये कषाय दु:खों के घर हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये दु:ख का बीज बोकर, दु:ख देकर नष्ट होते हैं, उन कषायों का जिन्हें परिचय नहीं है और

उनको ही अपनाते हैं, कषाय करके ही अपने को चतुर समझते हैं ऐसे पुरूषों के गुणों की ओर प्रगति नहीं हो सकती है। गुणविकास करना है तो दोषों को दोष जानकर उनकी उपेक्षा करनी पड़ेगी और जो सहज स्वाधीन स्वतंत्र निर्मल निष्कलंक स्वत:सिद्ध गुण है उसकी ओर दृष्टि होगी तो गुणविकास होगा।

परमार्थप्रतिक्रमण के अर्थ चित्त को शान्त करने की आवश्यकता- दोषों से उपेक्षा करके गुणों की ओर दृष्टि करके जो पुरुष परमविश्राम लेता है उसके यह निश्चयप्रतिक्रमण होता है अर्थात् यह संत उन सब दोषों को दूर करके अपने सहजशुद्ध आनन्द में मग्न होता है। इस कारण हे भव्य पुरूषों ! हे कल्याणार्थी जनों ! इस मन के वश मत रहो। कुछ विवेक लावो, ज्ञानबल बढ़ावो। उसमें कल्याण का मार्ग मिलेगा। यदि कल्याण चाहते हो तो मन को हित कार्यसाधक बनावो। इस मन को अपने ज्ञानप्रकाश की ओर तो लावो। यह मन ज्ञानप्रकाश की ओर आ तो जायेगा किन्तु ज्ञानप्रकाश के निकट आकर यह शांत हो जायेगा, बुझ जायेगा। फिर इस ज्ञानप्रकाश के अभ्युदय के समय केवल यह उपयोग ही काम आयेगा।

वचनगुप्ति की आवश्यकता- भैया ! इस वचन के भी वश में मत आवो। प्रथम तो दूसरे लोग जो वचन कहते हैं उस वचन के भी वश मत आवो अर्थात् उन वचनों को अनुकूल या प्रतिकूल मानकर हर्ष अथवा विषाद मत करो और अपने आपमें भी वचनक्रिया के प्रसंग न रक्खो। वचन बोलने के लिए ही अपनी तैयारी न बनावो, वचनों को वश रखो, अन्तर्जल्प व बाह्यजल्प को तजकर नीरंग निस्तरंग स्वभाव में विश्राम करो।

शुद्धात्मभावना का उद्यम- इस शरीर को भी प्रवृत्तियों से रोको। कुछ क्षण मन, वचन, काय को शांत करके परमविश्रांत स्वभाव नियत आकिन्चन्य आनन्दमय विशुद्ध अन्तस्तत्त्व को देखो। इसके दर्शन से ही समस्त दोष, समस्त बन्धन समाप्त हो जायेंगे। इस अन्तस्तत्त्व की सीमा से जहां बाहर आये और बाहर कहीं ढूँढा वहां ही इस पर संकट लग जाया करते हैं। मन, वचन, काय की अगुप्ति को त्यागकर, उनके उपयोग को त्यागकर सम्यग्ज्ञानक पुन्ज इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करो और शाश्वत सहज सिद्ध अपने आप जो अनुभव में आता हो उसको अनुभवो, चेष्टा करके कुछ भी मत करो।
एक चित्स्वभाव में ही स्थिरता करो।

आत्मरक्षा का अनुरोध- जो पुरुष इन अगुप्तियों का परित्याग करके गुप्तस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिर होता है उसके ही यह निश्चयप्रतिक्रमण होता है। यही वास्तविक शील है, यही निर्मल चारित्र है। केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, अपने आपमें निस्तरंग परिणत हो जाना यही वास्तविक प्रतिक्रमण है, यही गुणविकास का उपाय है, यही परमनिर्वाण का साधन है। इन साधनों से अपने आपको निर्मल बना सके तो इस अनादि अनन्त काल में भटकते हुए जो आज दुर्लभ नरजीवन पाया है उसकी सफलता होगी। विषय-कषायों में भ्रमने से तो समय की ही बरबादी है। कौन भोग भोगता है? भोगों का क्या बिगाड़ होता है? भोगों को भोगकर यह जीव खुद भुग जाता है। इस अरक्षा को त्यागकर रक्षा की प्राप्ति में आवो और अपना शेष अनन्तकाल आनन्द के अनुभव में व्यतीत करो। इस तरह इस परमार्थप्रतिक्रमण को कहते हुए के प्रसंग में यह द्विचरण गाथा है। अब इसके बाद अगली गाथा में प्रतिक्रमण का स्वरूप अंतिम उपसंहार रूप से कहा जायेगा।

गाथा ८९

मोत्तणं अट्टरूद्दं झणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उन्चइ जिणवरणिद्दिट्ठुत्तेसु।।८९।।

परिहार्य ध्यानों में आर्तध्यान की व्युत्पत्ति- जो आर्तध्यान रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है वह तपस्वी प्रतिक्रमण कहा जाता है ऐसा जिनेन्द्र देव के द्वारा निर्दिष्ट किए गए सूत्रों में कहा गया है। ध्यान 4 प्रकार के होते हैं- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान का अर्थ है आर्ति में होने वाला ध्यान। आर्ति मायने पीड़ा। पीड़ा में जो संकल्प विकल्प होता है जो चित्त की गति होती है उसे आर्तध्यान कहते हैं।

चतुर्विध आर्तध्यान का निर्देश- अपने देश का त्याग हो, देश छोड़कर जाना पड़े अथवा धन का नाश हो या अपने इष्ट मित्र जन विदेश चले जायें अथवा स्त्री आदि का वियोग हो जाय ऐसे अभीष्ट पदार्थ के वियोग होने पर जो पीड़ा होती

है और जो उस पीड़ा में संकल्प विकल्प होता है, चित्त किसी दूसरी और एकाग्र रहता है उसको इष्ट वियोगज आर्तध्यान कहते हैं और जो अपने विषयों में बाधक है मन के प्रतिकूल है, शत्रु, खोटा मित्र विघ्नकर्ता पुरुष इनके संयोग होने पर जो उनके वियोग के लिए विनाश के लिए चिंतन बना रहता है उस समय जो पीड़ा होती है उस पीड़ा में जो ध्यान बनता है उसे कहते हैं अनिष्टसंयोगज नामक आर्तध्यान। ऐसे ही शरीर की वेदना हो जाय, रोग हो जाय, चोट लग जाय, शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होने पर कराहना, विह्वलता करना, ये सब वेदना प्रभव आर्तध्यान हैं। वहां तो पीड़ा स्पष्ट है। उस पीड़ा में जो चित्त की गति होती हैं, चित्त जिस ओर लग जाता है ऐसे एकाग्र चिंतन को वेदना प्रभव आर्तध्यान कहते हैं, इसी प्रकार किन्हीं विषय साधनों की इच्छा करना यह निदान है। निदान में भी बड़ी पीड़ा होती है। किसी चीज की इच्छा कर रहे हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं, आशा लगाए हैं, तो जब तक वह चीज नहीं मिली है तब तक तो उसके निदान चलता है। उस निदान के समय में बहुत विह्वलता होती है। उस आकुलता में जो एकाग्र चिंतन होता है उसे कहते हैं निदान नामक आर्तध्यान। इस आर्तध्यान में जो जीव बसा रहता है उसके प्रतिक्रमण कहां सम्भव है?

रौद्रध्यानों में हिंसानन्द रौद्रध्यान- इसी प्रकार दूसरा ध्यान है रौद्रध्यान। रौद्र आशय में उत्पन्न होने वाले ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। किसी जीव की हिंसा करना, किसी के मारने का प्रोग्राम होना, उसमें अपनी अभिरूचि रखना, कोई हिंसा करले तो उसे देखकर खुश होना, जो अपने मन के प्रतिकूल हैं ऐसे बान्धवजनों में, परिजनों में, मित्रजनों में अथवा शत्रुजनों में उनके द्वेष के कारण उनका बध विचारना, बंधन विचारना और उसमें खुश होना, यह सब रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान में यह जीव राग और द्वेष को करके हर्ष मानता है। आर्तध्यान में शोक मानता है। आर्तध्यान से भी भयंकर यह रौद्रध्यान है। आर्तध्यान तो छठे गुणस्थान तक सम्भव है। वहां निदान नामक आर्तध्यान न होगा, बाकि तीन आर्तध्यान मुनि तक के हो जाते हैं, किन्तु रौद्रध्यान मुनि के रंच भी सम्भव नहीं है। रौद्रध्यान किसी प्रकार पंचम गुणस्थान तक ही सम्भव होता है। तो बंध, हिंसन पीड़न आदि में हर्ष मानना ये हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

मृषानन्द, चौर्यानन्द व विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान- झूठ बोलने में आनन्द मानना, चुगली कर रहे, झूठी गवाही दे रहे, किसी को छका रहे, किसी की मजाक उड़ा रहे, ऐसे असत्य बर्ताव को करके आनन्द मानना सो मृषानन्द रौद्रध्यान है। चोरी करने में आनन्द मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। किसी की चोरी हो जाय उसे देखकर आनन्द मानना अथवा किसी को चोरी के उपाय बताने में शौक रखना, चोरी सम्बन्धी कुछ कल्पनाएँ करे उनमें हर्ष मानना सो चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। इसी प्रकार अंतिम रौद्रध्यान है विषयसंरक्षणानन्द, अर्थात् पंचेन्द्रिय के जो विषय हैं उन विषयों के साधनभूत जो बाह्यपदार्थ हैं उनका संचय करने में मौज मानना, उनके सम्बन्ध में संकल्प विकल्प करना, ये सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान हैं।

विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान के विषय- इनमें स्पर्शन इन्द्रिय के विषयभूत शीतल गर्म पदार्थ अथवा कामविषयक साधन, ये स्पर्शनइन्द्रिय के भोगसाधन हैं। रसनाइन्द्रिय के भोगसाधन है उत्तम स्वादिष्ट सरस व्यन्जन और जिन वस्तुवों से ये व्यन्जन तैयार होते हैं उन वस्तुवों का संग्रहण और उनके भोगने में आनन्द मानना, सो ये विषयसंरक्षणानंद नामक रौद्रध्यान हैं। ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के जो-जो साधन हैं उनको जोड़ना, उनकी व्यवस्था बनाना, आनन्द मानना सो विषसंरक्षणानन्द है और इतना बड़ा जो परिग्रह संचय किया जाता है; महल, मकान, घर, आरम्भ, परिग्रह, धन वैभव सम्पदा रकम जो संगृहीत किए जाते हैं और उनका उपाय बनाया जाता है यह है मन का विषय। क्योंकि, यह जीव चेतन अचेतन पदार्थों के संग्रहण में बड़प्पन मानता है। सोचता है कि जितना विशेष धन होगा उतनी ही हमारी इज्जत बनेगी। जितना विशेष हमारी पार्टी का समूह होगा उतना ही हमारा बड़प्पन होगा। तो इन बाह्य पदार्थों के संचय करने में यह सब मन का विषय होता है अर्थात् इस चेतन अचेतन परिग्रह को रखते हुए परिग्रह के स्वरूप में मौज मानना, सो यह विषयसंरक्षणानन्द है।

धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान में निश्चयप्रतिक्रमण- जो ऐसे रौद्रध्यान में रहता है उसके दोषों की शुद्धि कैसे सम्भव है? जो आर्तध्यान और रौद्रध्यान को तजता है और उन खोटे ध्यानों को तजकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में प्रवृत्त होता है उस ही तपस्वी साधुसंत के निश्चय प्रतिक्रमण होता है। उसी साधु को निश्चयप्रतिक्रमण कहते हैं क्योंकि वह साधु निश्चयप्रतिक्रमण में तन्मय हो रहा है। प्रतिक्रमण तो है भाव और प्रतिक्रमणमय है भाववान्। भाव और भाववान् में अभेद बुद्धि करके वर्णन किया

गया है जैसे किसी यशस्वी पुरुष को, कीर्तिवान पुरुष को यों भी कह सकते है कि यह कीर्तिवाला पुरुष है और ऐसा भी कह सकते है कि यह कीर्तिपुंज है, यह स्वयं कीर्ति है। भाव और भाववान् में अभेद करके यह कथन किया गया है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यानों की दु:खमूलता- आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्ष दोनों सुखों के देने वाले नहीं हैं, अर्थात् आर्तत्व रौद्रध्यान में लौकिक सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रथम तो जो आर्तध्यान कर रहा है वह वर्तमान में भी विह्वल हो रहा है, फिर जो इस भव को छोड़कर जिस भव में जायेगा तो चूँकि रौद्रध्यान करके उसने पाप कमाया है, अत: उस पाप के उदय में दुर्गति को ही प्राप्त करेगा। ये दोनों ही खोटे ध्यान है। स्वर्ग और मोक्ष दोनों सुखों के प्रतिपक्षी है। ये संसार के क्लेशों के मूल कारण हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान यद्यपि चतुर्थ पंचम गुणस्थान में भी सम्भव है अथवा आर्तध्यान छठे गुणस्थान में भी सम्भव है, किन्तु यह कुछ नई कमायी नहीं है। मिथ्यात्व अवस्था में जो संस्कार बनाये गए थे, सो मिथ्यात्व के हट जाने पर भी उन परम्पराओं के लगाव के कारण अब तक भी ये खोटे ध्यान परेशान किया करते हैं। ये ही संसार के समस्त दु:खों के मूल कारण हैं।

निश्चयपरमधर्मध्यान का वैभव- भैया ! इन आर्तध्यान और रौद्रध्यानों को त्याग करके कुछ निश्चय परमधर्मध्यान की ओर आना चाहिए। निश्चय परमधर्म ध्यान क्या है? जहां किसी भी परवस्तु का संकल्प विकल्प नहीं रहा है, सहज धर्मस्वरूप अपने आत्मतत्त्व को ही जहां निरखा जा रहा है ऐसे उस परमधर्मध्यान को ध्याकर यह तपस्वी निश्चय प्रतिक्रमणरूप होता है। इस परमधर्मध्यान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि इसके प्रताप से निस्सीम अपवर्ग सुख की प्राप्ति होती है। अपवर्ग कहते हैं जहां धर्म, अर्थ, काम ये तीनों वर्ग न रहें। जिस पद में जिस भाव में वर्ग समाप्त हो गया है, धर्म अर्थ काम विषय शुभ अशुभभाव जहां नहीं रहे हैं, केवल एक ज्ञाताद्रष्टा की स्थिति मात्र हैं उसे कहते हैं अपवर्ग। अपवर्ग में निस्सीम आनन्द है। वहां विषयसाधना की कल्पनाएँ नहीं हैं इसी कारण उसमें सीमारहित आनन्द है। निश्चय परमधर्मध्यान का सीधा उत्सर्ग फल है मुक्ति का आनन्द, पर जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई है और धर्मध्यान बना हुआ है, साथ ही अभी राग का पूर्ण विनाश नहीं हुआ है इस कारण यह जीव स्वर्गसुख को भी प्राप्त होता है।

निज आत्माश्रय की परमशरणता- अब यहां यह दिखाना चाहते है कि ऐसे स्वर्ग और मोक्ष के सुख की प्राप्ति का मूल उपाय व अधिकारी कौन है? वह है निज आत्मा। किसी परवस्तु का सहारा लेकर अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती। व्यवहार धर्म भी मात्र अन्य पदार्थ का सम्बंध आश्रय मात्र है। कहीं अन्य पदार्थ इसके पुण्य को नहीं उत्पन्न करता है अथवा इसका भाव नहीं बनाता है, या इसके स्वर्ग और मोक्ष को नहीं दे देता। यह आत्मा अपने आपमें स्वयं ही अपने सहज सुख के लायक करनी करे तो मोक्ष का सुख प्राप्त कर सकता है और दु:ख के लायक करनी करे तो जन्म मरण के दु:ख को पाता रहता है। सो इन सब सुख दु:खों का मूल अपना आत्मा ही है। अपने आत्मा का आश्रय करने से विशुद्ध निष्कलंक निश्चय परम धर्मध्यान उत्पन्न होता है। उस ध्यान के प्रताप से यह जीव अतीत दोषों को अतीत कर देता है। इस ध्यान के प्रताप से पुन: उसकी आवृत्ति न आये और उस दोष में बांधे हुए पापकर्म का फल भी न मिले, यह सब कल्याणमय स्थिति हो जाया करती है।

परम शुक्ल ध्यान- सर्वोत्कृष्ट ध्यान कहलाता है शुक्लध्यान, जो परम शुक्लध्यान है अभेद शुक्लध्यान है उसमें ध्यान और ध्येय का विकल्प भी नहीं रहता है। यह मैं आत्मा अमुक पदार्थ को ध्या रहा हूं, ऐसा विकल्प अथवा ऐसी स्थिति यह मैं अमुक को ध्या रहा हूं, ऐसी पद्धति की परिणति नहीं रहती है किन्तु यह ध्याता पुरुष स्वयं में विशुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप शुक्लध्यानमय हो जाया करता है। ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित यह निश्चय परमशुक्लध्यान है। जहां अन्तर्मुखाकार वृत्ति रहती है, बहिर्मुखता जहां नहीं है, किन्हीं भी बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि, उनका चिंतन उनको विषयभूत बनाकर, भावना बनाना, ध्यान बनाना यह भी भेद जहां पर नहीं है, केवल अन्तर्मुखाकार परिणमन है वहां निश्चय परमशुक्लध्यान होता है। जहां समस्त इन्द्रिय समूह के विषय नहीं रहते हैं, निर्विषय शुद्ध सामान्यस्वरूप का ज्ञाताद्रष्टा मात्र है, ऐसा शुद्ध ज्ञान कलाकरि युक्त यह निश्चय परमशुक्लध्यान है।

महाशील और परमकल्याण- इस शुक्लध्यान को ध्याकर एक अन्तस्तत्त्व, परमभाव, पारिणामिक भाव में परिणत होकर जो श्रेष्ठभव्य निकटभव्य अपने आपके अभेदस्वरूप शुद्ध आनन्द में मग्न रहता है वह निश्चयप्रतिक्रमण कहलाता है। कितने दोष इस जीव के साथ लगे होते हैं, जिनकी गणना नहीं हैं, असंख्यात दोष हैं। जिनको संक्षेप में कहा जाय तो रागद्वेष मोह हैं।

इन तीनों का विस्तार इतना अधिक होता है कि उनके पद्धतिभेद में, विषयभेद में असंख्यात प्रकार होते हैं। उन असंख्यात प्रकार के दोषों को दूर करने की सामर्थ्य एक विशुद्ध सहज परमात्मस्वभाव के आलम्बन में है। सो जो ऐसे परमपावन पारिणामिक भावमय सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व का ध्यान करता है वह निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है, यह ही महाशील है, यह ही परमकल्याण है- ऐसा शास्त्रों में भी बताया गया है।

श्रुत का निश्चयव्यवहार गुम्फितपना- ये शास्त्र आचार्यदेव द्वारा रचित हैं, आचार्यदेव ने अपनी बुद्धि से, अपने मन से यों ही नहीं रचे हैं किन्तु जो पूर्वपरिपाटी रही आयी है, अपने प्रधान आचार्य की, जो परम्परा रही आयी है उस परम्परा से चला आया हुआ यह समस्त ज्ञान है। उन समस्त आचार्यों की मूल परम्परा के मुख्य प्रणायक आचार्य होते हैं गणधर देव, गणेश। गणेशों ने जो भी वस्तुस्वरूप बताया है वह सब वस्तुस्वरूप निश्चय और व्यवहारनय से गुंफित है। निश्चय का विषय है अभेद और व्यवहार का विषय है भेद।

निश्चयव्यवहारात्मकता की अलंकारात्मकता- भैया ! आजकल जो गणेश की मूर्ति बनाते हैं वह सब इस व्यवहारनिश्चयनयात्मकता का प्रतीक है। जैसे गणेश का शरीर तो रहता है मनुष्य का और मुख रहता है हाथी का। उस मनुष्य शरीर में हाथी का मुख जैसे ऐसा फिट हो गया है ऐसा अभेद हो गया है कि वहां दो बातें अब रही नहीं, भेद कुछ नहीं रहा कि इतना तो यह मनुष्य है और इतना हाथी है अथवा यह जुड़ा हुआ है ऐसा कुछ नहीं मालूम होता है। एक अभेद बन गया है, इस प्रकार निश्चय दृष्टि में ऐसा अभेद बन जाता है कि दो पदार्थों में भेद नहीं प्रतीत होता है और गणेश की सवारी है- चूहा, जैसे चूहा कपड़े को, कागज को कतर-कतर कर इतना छिन्न भिन्न कर देता है कि जितना छिन्न भिन्न हम आप फाड़-फाड़कर भी नहीं कर सकते। कपड़े को अथवा कागज को हम आप फाड़कर उतना छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते जितना कि चूहा उनको काटकर छिन्न-भिन्न कर देता हैं। जैसे मूषक ने इतना भेद कर डाला वस्तु का छिन्न–भिन्न करके, ऐसे ही व्यवहारनय ने भी इतना भेद कर डालता है, वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से और इस भेद के प्रभेद के विस्तारों से, वह व्यवहारनय का प्रतीक है। ऐसे ही निश्चय और व्यवहारनय का जहां सामन्जस्य है उसे अलंकाररूप में लोगों ने यों गणेश की मूर्ति बनायी है।

निश्चय ज्ञान की उत्कृष्टता- जहां निश्चय और व्यवहार का प्रतिपादन है, सामन्जस्य है और जैसे चूहे पर गणेश विराजे हैं ऐसे ही व्यवहार पर निश्चय विराजा है। ऊपर तो निश्चय ही है, व्यवहार उसका आश्रय है, साधन है, ऐसे ही निश्चयव्यवहारात्मक श्रुतज्ञान के महाप्रणेता हैं गणधरदेव। गणधर का ही नाम गणेश है। चूँकि समस्त ज्ञान का मूल गणेश जी अर्थात् गणधर हुए हैं, इसी कारण आज लोक परम्परा में शुभ कामों के लिए गणेश को नमस्कार किया जाता है और उनको ज्ञान देने वाले के रूप में निरखा जाता है।

द्रव्यश्रुत का मूल स्रोत महादेवाधिदेव जिनेन्द्र- इन गणधरों ने, इन गणेशों ने जो मूल सूत्रश्रुत पाया है वह जिनेन्द्र महादेव के मुख से जो दिव्यध्वनि खिरी है उससे प्राप्त किया है। लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि महादेव ने डमरू बजाया और उस डमरू से प्रथम 14 सूत्र निकले, जो लघु सिद्धान्त कौमदी में बताये गये हैं। तो यह भी एक अलंकार है। जितने भी सूत्र निकले हैं, जो ज्ञान का मूल स्रोत है वह है दिव्यध्वनि। डमरू में जो आवाज निकलती है वह किसी एक रूप नहीं है, इसी प्रकार जो भगवान की दिव्यध्वनि निकली है वह भी किसी एक अक्षररूप नहीं है, नियतभाषारूप नहीं है, वह अनुभय वचन है और वे निकलते हैं चार घातिया कर्मों का विनाश करने वाले रागद्वेष का पूर्णत: क्षय करने वाले जिनेन्द्रमहादेव के शरीर से। ऐसी जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आये हुए, आचार्य परम्परा से चले आये हुए द्रव्य श्रुत में यह परमार्थप्रतिक्रमण का स्वरूप कहा गया है।

परमध्यानमय परमार्थप्रतिक्रमण के परमार्थ पुरूषार्थ का निर्देश- यहां यह बताया गया है कि इन चार ध्यानों में जो आर्तध्यान रौद्रध्यान का परित्याग करके धर्मध्यान को ग्रहण करता है और इस धर्मध्यान के प्रसाद से सर्वदा उपादेय जो निश्चय परमशुक्लध्यान है उसको जो ध्याता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के स्वरूप के वर्णन करने के इस प्रकरण में चूँकि परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार है ना, अत: परमार्थस्वरूप जो शाश्वत आत्मा का चैतन्यस्वभाव है उस स्वभाव के आलम्बन की प्रमुखता में यह सब प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है जो इस प्रकार प्रतिक्रमण

स्वरूप होता है वह नियम से निकट काल में परमविर्वाण को प्राप्त होता है। हम अपने दोषों की निवृत्ति के लिए इस परमार्थस्वरूप अन्तस्तत्त्व का ही आश्रय करें। यही परमशरण है, यही परममंगलमूर्ति है।

ध्यानों के निर्देशन- आत्मपद्धति से शुक्लध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। ध्यान तो चित्त की ओर एकाग्रता लाने को कहते हैं। कौन चित्त किस विषय की ओर एकाग्र होता है, इसके भेद से ध्यान में भेद होता है। यदि चित्त पीड़ा के विषय में लगता है तो वह आर्तध्यान है। यदि चित्त खोटे कार्यों के करने में हर्ष मानने में लगता है तो वह रौद्रध्यान है। चित्त विशुद्ध स्वरूप में और उस विशुद्ध स्वरूप के साधक साधनों में लगता है तो वह धर्मध्यान है और शुक्लध्यान वह है जहां किसी प्रकार मन, वचन, काय की क्रियाएं नहीं हैं अर्थात् गुप्ति की पूर्ण साधना है। जहां इन्द्रिय के विषयों का कार्य नहीं है, विषयों से अतीत है, इन्द्रिय से परे है, जहां ध्यान और ध्येय का भी भेद नहीं है, एक आत्मतत्त्व है और उसका रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञाता द्रष्टारूप परिणमन है, जहां अन्तस्तत्त्व की ओर उपयोग बना रहता है ऐसे ध्यान को शुक्लध्यान कहा करते हैं।

निश्चय शुक्लध्यान में परमार्थप्रतिक्रमण- परमार्थप्रतिक्रमण ऐसे ही परम शुक्लध्यान से होता है। जिस समय यह आत्मा ही ध्यान करने वाला है और यह आत्मा ध्यान में आ रहा है और अभेद पद्धति से आ रहा है, उस ध्यान करते हुए ये इतना भी संकल्प अथवा विकल्प न हो रहा हो, ऐसे विशुद्ध अभेद ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं। यह शुक्लध्यान हमारी समझ में कैसे आए, इसका क्या स्वरूप है, इसकी जानकारी कैसे बने? इसके लिए शुद्धनय का आश्रय लेना होता है। मूल के नय के भेद है शुद्धनय और अशुद्धनय। शुद्धनय तो वस्तु की सही निरपेक्ष स्वत:सिद्धस्वरूप को निरखता है और अशुद्धनय वस्तु के सहजस्वरूप को न देखकर अन्य भावों को निरखता है। शुद्धनय का जब हम आलम्बन करें तो वहां यह ध्यानावली, यह ध्यानपरम्परा भी दृष्टिगत नहीं रहती है। अपने आपका जो सहज ज्ञायक स्वरूप है उस ही तत्त्व में वह प्रकट रहता है।

ज्ञान का शुद्ध रूप- इस आत्मा का ध्यान है, यह आत्मा ध्यान करता है, इसका ध्यान बराबर चल रहा है, यह मैं अमुक का ध्यान करता हूं ऐसी ध्यानविषयक चर्चायें व्यवहारनय में ही दृष्टिगोचर होती हैं। शुक्लध्यान में जहां कि परमार्थप्रतिक्रमण का अंतिम रूप बनता है, सर्वदोषों की जहां निवृत्ति हो जाती है वह शुक्लध्यान सम्यग्ज्ञान का आभूषण है। वास्तव में ज्ञान वह कहलाता है जो ज्ञान-ज्ञान को जाने। ज्ञान का उत्कृष्ट श्रृंगार, ज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति वह है जहां जानने वाला यह ज्ञान इस जानने वाले स्वरूप को ही जानने लगे और इस परम प्रगति की दृष्टि में इस ज्ञान का जाननहार ज्ञान के अतिरिक्त जो भी अन्यविषयक ज्ञान होते हैं उन सब ज्ञानों को अज्ञान में कहा गया है, जहां इस सम्यग्ज्ञान का प्रवेश है वहां परविषयक ज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान कहा गया है। यह परमात्मतत्त्व जो कि परमशुक्लध्यान का विषय है अथवा परमार्थप्रतिक्रमण का परम आश्रयभूत है वह सम्यग्ज्ञान आभूषण स्वरूप है। सर्व ओर से सर्वथा विकल्पजाल से रहित है यह परमात्मतत्त्व। अपने आपके आत्मा में आत्मा के ही सत्त्व के कारण आत्मा का जो सहजस्वरूप है वह स्वरूप परमशांति परम आनन्दमय पूर्ण निराकुलता से परिपूर्ण ज्ञान के असीम विकास से शोभायमान् वह परमात्मतत्त्व है। इस परमात्मतत्त्व में जिसे कि शुक्लध्यान ज्ञान में ला रहा, जिसके आश्रय से उत्तम परमार्थप्रतिक्रमण होता है, जो निकटकाल में ही परमनिर्वाण को प्रकट करने वाला है वह समस्त नयजालों के प्रपंचों से रहित है।

शुद्धनय से आत्मतत्त्व का दर्शन- यह परमात्मतत्त्व शुद्धनय से देखा जा रहा है। यह हम आप लोगों की चर्चा है, ज्ञानीपुरुष शुद्धनय के आश्रय से उस कारणपरमात्मत्त्व को निरखता है, किन्तु उस कारणपरमात्मतत्त्व में न तो शुद्धनय बसा है और न अशुद्धनय बसा है। वह तो सर्व नयजालों के प्रपंचों से रहित है। ऐसा है यह परमात्मतत्त्व, आपका सहजस्वरूप। अब बतलावों इस निज कारणसमयसार में ये ध्यान की संततिया कैसे प्रकट हो गयी हैं? जैसे किसी सज्जन पुरुष के एकाएक थोड़े ही समय में खोटी बातें आ जायें, व्यसनों की ओर लग जाये अथवा दुष्टों का संग लग जाये तो लोग आश्चर्य करते हैं- ओह कितना सज्जन पुरुष था, कितना उदार था, साधु संगति का बड़ा रूचिया था, अब कैसे क्या हो गये ये सब अनुचित व्यवहार? ऐसे ही यह ज्ञानी आत्मा के सहजस्वरूप को निरखकर और इस सहजभाव की उत्कृष्टता समझकर यह तो स्वभावत: परमशुद्ध शांत परम आनन्दमय सर्वसंकटों से परे ज्ञान से परिपूर्ण प्रभु है। इसमें ये नाना जाल विषय, कर्तृत्व, वितर्क विचार ये सारे रंग कैसे लग गये, इस पर ज्ञानी को आश्चर्य हो रहा है। लगे हैं ये अनादि से और वर्तमान में भी उनके कुछ न कुछ संस्कार या

कुछ बर्ताव हो रहा है, किन्तु ज्ञानी को यहां यह आश्चर्य हो रहा है कि ये सारे नटखट कैसे हो गये ऐसे विशुद्ध परमात्मतत्त्व को निरखने वाले साधुवों को निश्चयप्रतिक्रमण प्राप्त होता है।

परमतपश्चरण- वह कौनसा परम तपश्चरण है? जिसके प्रसाद से अनादिकाल से भवभव के बांधे हुए कर्म क्षणमात्र में खिर जाते हैं। कर्म जब खिरा करते हैं तो शीघ्र खिरते हैं, धीरे-धीरे नहीं खिरते हैं कि अब खिरने लगे हैं तो हजारों वर्ष लग जायेंगे। अरे कूड़ा तो जरूर बहुत अधिक पड़ा हुआ है, अब से अनगिनते वर्ष पहिले भी जो कर्म बंधे थे उनका भी सत्त्व मौजूद है। लाखों, करोड़ों, अरबों, शंख महाशंखों वर्षों की कितनी ही गणना लगाते जावो, जीव में बहुत दिनों के कर्म मौजूद हैं, मगर यह कूड़ा कचरा ढोकर न निकाला जायेगा, किन्तु आत्मध्यान की अग्नि कणिका लग गयी तो क्षण भर में ही सब कूड़ा कचरा ध्वस्त हो जाता हैं। वह अग्नि कणिका कौनसी है? वह है सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन।

व्यामोहियों के संतोष के स्थल- मोही लोग व्यामोहभाव में आकर कैसे-कैसे संतोष मान रहे हैं- कोई स्त्री पुत्रों से संतोष करते हैं, कोई किसी से अपना संतोष करते हैं पर वहां संतोष को क्या कुछ अवकाश भी है? रंच भी अवकाश नहीं है। अरे- जैसे जगत् के सभी जीव अत्यन्त भिन्न हैं ऐसे ही कुटुम्ब के ये लोग भी अत्यन्त भिन्न हैं। जैसे जगत् के जीव अपने-अपने ही कषायों के अनुकूल बर्ताव किया करते हैं ऐसे ही यह परिजन और मित्र गोष्ठी के लोग भी अपने-अपने कषायों के अनुकूल बर्ताव किया करते हैं। जैसे जगत् के सभी जीव अपने आपको ही चाहते हैं, इस ही प्रकार ये परिजन भी अपने ही आपको, अपने ही सुख को चाहते हैं। कौनसी विशेषता है इन परिजनों में जिससे कि संतोष कर लें, पर मोह का ऐसा अजब नृत्य है कि जो अनहोनी बात है उसे भी यह होनी में शुमार करने की कोशिश करता है। यह त्रिकाल नहीं हो सकता है कि हम किसी परजीव को संतुष्ट कर दें या कोई परजीव मुझे संतुष्ट कर दे किन्तु यह मोही सुभट त्रिकाल अनहोनी बात को भी होनी बनाना चाहता है और दु:ख है किस बात का? अनहोनी बात को होनी बनाने का यह जीव प्रयत्न करता है।

अमीरी और गरीबी- भैया ! जो धन वैभव सम्पदा इनमें संतोष किया करते हैं ऐसे व्यामोही पुरुष इस अमूर्त ज्ञानमात्र सबसे विविक्त आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते हैं। परपदार्थों के उपयोग से आत्मतत्त्व की कौनसी बड़वाई हो जाती है? ऐसे अज्ञान की ओर जिनका उपयोग लगा हैं उन पुरूषों से बढ़कर किसे गरीब कहा जाय? लोग तो बाहरी दशा को देखकर ही अमीर गरीब की परख कर रहे हैं, पर अमीरी वास्तविक वह है जहां शांति मिले और गरीबी वह है जहां अशांति रहे। धन सम्पदा के कारण अमीरी और गरीबी का निर्णय करना केवल एक मोह नींद का स्वप्न है। यह परमात्मत्त्व यह सहजस्वभाव जिसकी दृष्टि में आया है वह ही वास्तविक अमीर है और ऐसा ही अमीर भव्य पुरुष परमार्थप्रतिक्रमण के बल से समस्त दोषों को दूर करके शुद्ध आनन्द को प्राप्त करता है।

प्रतिक्रमण शरण- हम आपका शरण अब वर्तमान में एक प्रतिक्रमण ही है, अर्थात् प्रथम तो हम भगवद्भक्ति करके, ज्ञानाभ्यास करके मात्र अपने आपको विषयकषायों से बचाएँ और अपने गुणों के स्वभाव की महनीयता निरखकर वर्तमान या भूतकाल में जो दोष बन गए हैं उनको भी एक नजरे अंदाज करके एक महान् पश्चात्ताप करना चाहिए। मौज मानने से कुछ काम न सरेगा। इतना अपराध है, इतनी त्रुटि है, इतना बाह्य की ओर रम रहे हैं कि अब इसके ही पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, रंज शोक विशाद करने को अभी बहुत काम पड़ा हुआ है, उससे भी कुछ अपने आप पर दया आयेगी और प्रभु के शुद्धस्वरूप में भक्ति जगेगी और अपने आपके स्वभाव के विकास के लिए उत्साह जगेगा। इन सब भावों के समन्वय में आत्मा में ऐसी क्रांति उत्पन्न होगी जिससे यह अपूर्व आत्मा के दर्शन करेगा और उसे समस्त त्रुटियों दंद फंद से निवृत्ति होगी।

अभेदध्यान में प्रतिक्रमण की पूर्णता- प्रतिक्रमण के भावों के फल में जो कि आत्मधर्मस्वरूप है, अब कुछ आगे चलकर इस ही साधना की प्रगति में बढ़कर ऐसा रागद्वेषरहित ध्यानी होगा, समाधिभाव को जगाता हुआ ध्यानी बनेगा कि जिससे फिर आत्मा का अभेद ध्यान बन जायेगा, शुक्लध्यान हो जायेगा। इस ही शुक्लध्यान की पूर्णता में परमार्थप्रतिक्रमण की पूर्णता होती है। इसी कारण परमार्थप्रतिक्रमण के अधिकार में अनेक पद्धतियों से इसका स्वरूप बताते चले आ रहे थे। अब परमार्थप्रतिक्रमण के एक पद्धति से बताये जा रहे स्वरूप के उपसंहार में आखिरी गाथा कही गयी है। इसमें परमशुक्लध्यान की बात कह कर परमार्थप्रतिक्रमण के स्वरूप को कहने की समाप्ति की जा रही है क्योंकि परमार्थप्रतिक्रमण की पूर्णता निश्चयपरमशुक्लध्यान में ही होगी।

करणानुयोग में शुक्लध्यान के विकास- यह शुक्लध्यान करणानुयोग की विधि में ८ वें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इस अपूर्वकरणवर्ती आत्मा में बसे हुए शुक्लध्यान से अपूर्व ६ बातें प्रकट होती है। प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि का होना, पहिले बांधे हुए कर्मों की स्थिति का कम होना, नवीन जो कर्म बँध रहे हैं उनकी कम स्थिति का होना, जो कर्मों का अनुभाग रस पड़ा हुआ है वह अनुभाग भी कम हो जाना, जो पाप प्रकृतियां पहिले की बँधी पड़ी हैं उनका पुण्यरूप हो जाना, असंख्यात गुणे कर्मों की निर्जरा होना, ये ६ अपूर्व बातें हैं। यह शुक्लध्यान और अभेदरूप बनता है, परम होता है तो फिर ३६ प्रकृतियों का क्षय हो जाया करता है और भी आगे प्रगतिशील होता है शुक्लध्यान। वहां सूक्ष्म लोभ का भी विनाश हो जाता है, फिर परम यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है। वहां भी शेष बचे हुए घातिया कर्मों को विनष्ट कर देता है तब सकल परमार्थ अवस्था प्रकट होती है और उस समय इसने परमार्थप्रतिक्रमण का लाभ पाया समझिये। चतुर्थगुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक यह प्रतिक्रमण उत्तरोत्तर प्रगतिशील होता है। इसके प्रताप से संसार के समस्त संकट टल जाया करते हैं।

गाथा ९०

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविदा पुव्वं।
समत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।९०।।

भावित और अभावित भाव- परमार्थप्रतिक्रमण की भक्ति में ज्ञानी जीव पूर्वा पर परिणतियों के अन्तर को देखता हुआ चिंतन कर रहा है कि इस जीव ने मिथ्यात्व आदिक परिणाम पूर्वकाल में बहुत दीर्घकाल से भाये हैं, किन्तु सम्यक्त्व आदिक परिणाम इस जीव ने नहीं भाये हैं। इन दु:खी जीवों को पता नहीं रहा कि इस लोक में मैं सबसे न्यारा अपने लिए केवल अकेला हूं और स्वयं अपने लिए आनन्द से भरपूर हूं, इस सही बात का पता न होने से इस जीव ने दरदर भटककर नाना विपत्तियां सही है। कितनी तनिक सी बात है? अपने आपमें झुकने और सामने की बात है। पर को रिझाने का, पर को प्रसन्न करने का प्रोग्राम होना तो कठिन बात है, पर यह तो खुद-खुद में समाये, व्यापे ऐसी स्वाधीन बात है।

स्वरूप के निकट में भी स्वरूप के अपरिचय से परेशानी- अहो, जिसे रास्ते का पता नहीं है वह अभीष्ट घर के पास भी खड़ा हो तो भी वह परेशानी में रहता है। मुझे अमुक घर जाना है, मिल नहीं रहा है अथवा असहाय सा खड़ा हो, दूसरे से पूछता है भाई अमुक घर का रास्ता कौनसा है? वह कहता है कि यही तो है जहां तुम खड़े हो। ऐसे ही आनन्द का घर सर्वकल्याण का आश्रय यह खुद ही है, पर खुद को अपने इस निज स्वरूप का पता न होने से यह संकल्प विकल्प में डूब रहा है। संकल्प विकल्प करके यह अपने को ही परेशान कर रहा है, दूसरे का क्या बिगड़ता जिस दूसरे पर द्वेष की दृष्टि भी रखी हो तो उस दृष्टि में इसने अपना ही बिगाड़ किया, यह दूसरे का बिगाड़ करने में तो त्रिकाल असमर्थ है। निमित्त की बात अलग है। यदि किसी का दु:खी होने का उपादान है तो उसकी दु:खकारक प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर परवस्तु आश्रयभूत हो जाता है।

क्लेश में परवस्तुवों का अनपराध- ये दिखने वाले परपदार्थ मेरे क्लेश के निमित्त नहीं हैं। ये तो क्लेश के निमित्त के नोकर्म हैं। तभी यह व्यभिचार देखा जाता है कि एक ही पदार्थ को देखकर कोई प्रसन्न हो जाता हैं कोई दु:खी होता है, कोई ज्ञाताद्रष्टा रह जाता है। ये पौद्गलिक पर्यायें इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ मेरे सुख के अथवा दु:ख के निमित्त नहीं हैं। हम सुखी और दु:खी जब होते हैं तो इन पदार्थों को विषय बनाकर ही दु:खी सुखी हो पाते हैं। ऐसा विषयविषयी सम्बन्ध है पर इनमें दु:ख सुख के कर्तृत्व का सम्बन्ध नहीं है। कितनी हैरानी की बात है? अपना आनन्द कितना सुगम है, कितना निकट है, फिर भी यह हैरानी है। यह सब कुबुद्धि का परिणाम है।

निमित्तनैमित्तिक योग का न्याय- भैया ! हम कुबुद्धि करें तो उसके विपाक दु:खी होना निश्चित्त ही है, न्यायानुकूल ही है। लोग समझते हैं कि आजकल बड़े अन्याय हो रहे हैं। सभी जगह कोई किसी को किसी तरह सताता है, सच्चाई का नाम नहीं रहता है, नाना मायाजाल पूरा जाता है, पद-पद पर दु:ख है, बड़ा अन्याय छाया है पर मूल में देखो तो अन्याय कहीं त्रिकाल हो ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्वकाल में जो अशुभभाव किया था और वहां जो अशुभ कर्मों का बंध हुआ था उसके उदय काल में यदि भली बात मिल जाय तो अन्याय है। पाप के उदय में यदि सुख मिल सके, यदि शांति मिल सके तो हम

उसे अन्याय कहेंगे। उदय पाप का है और उसे दु:ख हो जाय तो यह अन्याय में शामिल है या न्याय में शामिल है? कोई जीव बुरे भाव कर रहा है, भ्रष्टाचार करके दूसरों को सताने का उद्योग कर रहा है वहां न्याय हो रहा है यह कि ऐसे खोटे परिणामों का निमित्त पाकर वहां पापकर्म का बंध हो रहा है यह है न्याय और जिन जीवों के पापकर्म का उदय है उनको नाना प्रतिकूल घटनाएँ मिलकर दु:ख हो रहा है, यह है न्याय। अन्याय कहां है?

साक्षी की दृष्टि में- यह मोही जीव जब अपने मन के अनुकूल बाहरी परिस्थिति नहीं देखता, उसे अन्याय कह बैठता है, पर जो साक्षीभूत है ऐसे ज्ञानी आत्मा के सामने तो यह सारा न्याय हो रहा है। घड़ी में चाभी न रहे घड़ी बंद हो गयी, यह क्या अन्याय है? न्याय है, क्योंकि निमित्तनैमित्तिक संयोग इस प्रकार का है कि उसे बंद हो जाना चाहिए घड़ी में यदि चाभी भरी हो तो चलेगी। सब विज्ञान का न्याय है।

कल्पित चतुराई में दो कलावों को अधिकता- एक बार किसी आम सभा में कोई मुसलमान भाषण कर रहा था। वह भाषण देने में बड़ा चतुर था जिस बिरादरी के लोगों को जाते हुए देखे उसही की कोई बात छेड़ दे तो उन लोगों की जिज्ञासा हो जाती थी कि सुने यह क्या कहता है इसके सम्बन्ध में? यों बहुत आदमी एकत्रित हो गये थे। दस पाँच जैन भाई भी निकले। मुसलमान ने देखा तो जैनियों के प्रति बात छेड़ दी, देखो भाई दुनिया में कला ७२ होती हैं मगर जैनियों में दो कला ज्यादा हैं, यह बात सुनकर जैन लोग वहां चले गये कि हम अपनी दो कलाएँ तो जान लें कि कौनसी दो कलाएँ जैनियों में बढ़ी हुई हैं। उस प्रवक्ता को तो अपना उद्‌देश्य बताना था। उसे तो जीवों की हिंसा खुदा के नाम पर करने को धर्म बताना था। उसकी मंशा तो भाषण में यह कहने की थी। सो बड़ी युक्तियों से अपनी समझ के अनुसार चातुर्य से हिंसा में धर्म भाषण में सिद्ध किया। खैर बहुत देर के बाद किसी ने छेड़ ही दिया कि आपने तो जैनियों में दो कलाएँ अधिक बतायी वे कौनसी हैं? तो उसने बताया कि जैनियों में दो कलाएँ ये हैं कि खुद जानना नहीं, दूसरों की मानना नहीं। हो गयी दो कलाएँ अधिक की नहीं?

अज्ञानियों की अतिरिक्त कलावों का शास्त्र में संकेत- आप सोच रहे होंगे कि ये कैसी दो कलाएँ निकाली? आपको याद होगा इस सम्बन्ध में अमृतचन्द्र जी सूरि ने भी इन दो कलावों का निर्देशन किया है।

"इदं तु नित्यव्यक्ततयाऽन्त:प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वात्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनान्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदपि अनुभूतपूर्वं निर्मल विवेकालोकविविक्तं केवलेमेकत्वम्।"

इस दुनिया के जीवों ने विषयों की कथाएँ बार-बार सुनी, परिचय में लायीं और अनुभव किया किन्तु यह परमशरण परमात्मतत्त्व जो अंत: नित्यप्रकाशमान है, पर कषायों के साथ अपने उपयोग को एकमेक कर दिया है जिसके कारण इसकी बुद्धि ऐसी खोटी हो गयी है कि परमात्मप्रभु को न तो यह स्वयं जानता है और उस परमात्मतत्त्व के जो जाननहार हैं उनकी उपासना संगति नहीं करता है। इसलिए सारशरणभूत तत्त्व न इसने कभी सुना, न परिचय में आया, न इसके अनुभव में आया। दो कलाएँ इसमें हैं कि नहीं? खुद जानना नहीं, जानने वालों की मानना नहीं।

प्रतिक्रामक का चिंतन- यह जीव अपने आपकी रक्षा के लिए बड़ा आलसी बन रहा है। इसने अपने आपकी शांति के लिए यथार्थ कार्य नहीं किया, मोह ममतावों में ही बसा रहा। यह परमार्थप्रतिक्रमण का अधिकारी संत चिंतन कर रहा है दूसरे जीवों को कुछ बताने का बहाना करके यह कह रहा है अपनी ही बात को। अहो देखो इस जीव ने अब तक मिथ्यात्व परिणाम ही भाये, पर सम्यक्त्व आदिक भावों की भावना नहीं की। ऐसा वही कह सकता है जिसे सम्यक्त्वभाव प्रकट हुआ है और वहां दूसरों का तो कहने का बहाना है, अपने आपके बारे में यह सोच रहा है कि मैंने कितना अनन्तकाल खोटी वासनावों में लगा दिया और बड़ी मुश्किल से यह मनुष्यभव आज पाया है। अब यह सम्यक्त्वपरिणाम मेरा शिथिल न हो, ऐसी भावना है।

धर्मोपदेश में स्व का अध्ययन- जैसे सेना के सुभट लोग राजा की, सेनापति की जय बोलते हैं। उस जय बोलने में उनके भीतर में छिपी हुई अपने आपकी जय है। मैं सामने अमुक सुभट से लड़ रहा हूं तो मैं जीत जाऊँ, इस उद्‌देश्य के लिए बड़े पुरुष की जय बोलते हैं। ज्ञानीसंत जितने भी व्याख्यान करते हैं, लेखन से या बोलने से, जितनी भी देशना करते हैं उपदेश आदि देते हैं दूसरों को, यह एक उनकी विधि है। उपदेश देने के समय भी वे अपने आपका ही अध्ययन करते हैं। स्वाध्याय के ५ भेदों में धर्मोपदेश नाम का भी भेद बताया है। अर्थात् उसमें भी स्वाध्याय याने स्व का मनन है। यदि स्व के

अध्ययन की दृष्टि नहीं है तो वह धर्मोपदेश स्वाध्याय में गर्भित नहीं हो सकता। जैसे कि पृच्छना- दूसरे से प्रश्न पूछना इसमें स्व के अध्ययन की दृष्टि है। तो पृच्छना भी स्वाध्याय हो जाता है। यदि स्व के अध्ययन की दृष्टि नहीं है अपनी कला दिखाने की दृष्टि है उस प्रतिक्रिया से दूसरों पर अपनी छाप छोड़ने की दृष्टि है अथवा लोक में मेरा मान इससे भी अधिक रहे, यह दृष्टि है तो समझो कि वह स्वाध्याय नहीं है। यह स्वाध्याय तभी है जब स्व के अध्ययन की दृष्टि हो।

अज्ञान का परिणाम- यह गुणप्रकर्ष का इच्छुक दोषपरित्याग का इच्छुक ज्ञानी सोच रहा है इसने मिथ्यात्व अविरति कषाय योग के परिणाम जो कि कर्मबंध के कारणभूत हैं वे तो भाये, उनमें ही यह रमा, किन्तु जो शुद्ध ज्योति है उसके निकट नहीं पहुंचा। मात्र मोह मिथ्यात्व कषाय से अपने उपयोग को रंजित बनाया, रंगीला बनाया। इससे ज्ञानी पुरुष के वचन इसमें घर नहीं कर सके, खुद नहीं समझा और जो उपदेशक हैं आचार्य हैं, ग्रन्थ हैं, शास्त्र हैं, उनमें जो वाणी लिखी है, इन समस्त साधनों की उपासना से भी अपने हृदय को पवित्र न किया।

शास्त्र की वास्तविक विनय- भैया ! जरा इस प्रसंग में यह विचारिये कि शास्त्र की विनय क्या है? शास्त्र की अच्छी जिल्द बंधवा दिया अथवा, कपड़े में अच्छी तरह बांधकर शास्त्र को रखा, यह क्या शास्त्र की विनय हो गयी? अरे शास्त्र की विनय वहां है जहां शास्त्र में लिखे हुए जो वचन हैं उनके मर्म का परिज्ञान हो और प्राय: इस मर्म परिज्ञान के साथ ही आनन्द के अश्रु भी निकल बैठें, वहां इसने शास्त्र का विनय किया। शास्त्र का उत्कृष्ट विनय यथार्थ विनय वही है कि शास्त्रों में जो मर्म भरा है उसका परिचय हो और दूसरे जीवों को परिचय कराये यह उस शास्त्र का उत्कृष्ट विनय है। शास्त्र की विनय ही ज्ञान की विनय है। ज्ञान कैसा होता है, क्या होता है, उस ज्ञान पर न्यौछावर हो जाना आत्मसमर्पण कर देना, सर्व कुछ न्यौछावर कर देना, यह है वास्तविक ज्ञान की विनय शास्त्र की विनय।

अकरणीय और करणीय विनय- इस जीव ने अब तक स्त्री बच्चों की खूब विनय की। वे गालियां सुना दे तो भी सुनना पसंद किया। वे कितने ही हुकुम दें उन हुकुमों के मानने में दिन रात विनय कर मोह का कर्तव्य निभाया, अपना मन, वचन सब कुछ न्यौछावर उस मोह के विषयभूत परिजनों के लिए किया। आत्मरक्षा के लिए क्या किया? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र की विनय किसने की? ज्ञानस्वरूप और ज्ञान के साधक देव शास्त्र गुरु में हमारी असली विनय वृत्ति बने तो हमने कुछ किया समझें।

जीव की विपरिणती का विस्तार- इस जीव ने अज्ञान अवस्था में जो वासनाएँ बनाई हैं वे हैं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग की। इन्हीं चार विभावों का विस्तार जब होता है, देखा जाय तो इसे कहते हैं तेरह गुणस्थान। मिथ्यात्व में पहिला गुणस्थान है, अविरति में मिथ्यात्व रहित अविरति तो दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में है और सामान्यतया पहिले से चौथे तक है। अविरतिरहित कषाय ५ वें से लेकर १० वें गुणस्थान तक है। और साधारणरूप से पहिले गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक है। मिथ्यात्व, अविरति, कषायरहित योग केवल ११ वें, १२ वें और १३ वें गुणस्थान में है और वैसे सामान्यतया पहिले गुणस्थान से लेकर १३ वें गुणस्थान तक है। यहां तक कर्मों का आश्रव बताया गया है। जिसका होनहार मुक्ति के निकट नहीं है ऐसा अनासन्न भव्य जीव एक इस निजपरमात्मतत्त्व की प्रतीति से रहित तब तक रहता है जब तक इसने सम्यक्त्व की भावना नहीं भायी।

जीव की विपरिणति का मूल कारण- इस मोही जीव को इसका विशद बोध नहीं है कि देखो जो भी कोई पदार्थ होते हैं वे अपने आप हैं, अपने आप अपना सत्त्व रखते हैं। जो स्वयं अपना सत्त्व रख रहा है उसका स्वरूप निरपेक्ष है, स्वाधीन है, विविक्त है, अपने आपके स्वरूप में है, पर के स्वरूप से दूर है। ऐसे सहज निरपेक्ष स्वत:सिद्ध निरन्जन सदाशिव निजपरमात्मतत्त्व की श्रद्धा न रही थी, इस कारण इस मिथ्यादृष्टि भव्य जीव ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग इनकी भावना और वासना तो बनायी परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उपासना, भावना, दृष्टि नहीं की। विशदरूप में, अनुभूति के रूप में यह आत्मतत्त्व तब प्रकट होता है जब नैष्कर्म्य चारित्र होता है, जहां कोई क्रिया नहीं रहे, जहां कोई रंग तरंग नहीं रहे, ऐसी जिस क्षण स्थिति बने उस क्षण आत्मा की अनुभूति होती है।

आत्मानुभूति की एक पद्धति- भैया ! मोक्षमार्ग की प्राक्‌पदवी में जहां अप्रत्याख्यानावरण कषाय का भी उदय है और अन्तर में उसका संस्कार भी है इतने पर भी कुछ क्षण ऐसे मिल जाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव का कुछ क्षण कषायों में उपयोग

नहीं रहता और वहां रंग-तरंग वृत्ति नहीं चलती है। ऐसी निष्कर्म अवस्था में अर्थात् क्रियारहित अवस्था में, ज्ञानस्वभाव में ही जब उपयोग हो रहा है तो ऐसी अवस्था में आत्मानुभूति हो जाती है, चूँकि अन्तर में संस्कार कषाय का पड़ा हुआ है। अत: वह उपयोग इस ज्ञानस्वभाव पर देर तक नहीं टिक पाता है। फिर कषायों में उपयोग चला जाता है। परन्तु आत्मानुभूति होती है तो वह सबके एक ही ढंग से होती है।

स्थिर अथवा अस्थिर आत्मानुभूति में आत्मतत्त्व का समान स्वाद- जैसे किसी गांव में बड़ी प्रसिद्ध एक हलवाई की दुकान है जो बहुत मीठा पेड़ा बनाता है। खोवा को मंदी आंच में सेका, उसी खोवा में जब थोड़ी शीतलता हो जाय तो उसे बूरे के साथ खूब घोटा। खोवा से आधी तादात बूरे की रक्खी और उसे अच्छे आकार में बना लिया। उसका स्वाद अच्छा बन गया। अब अमीर पुरुष आधा सेर पेड़ा खरीद करके खाये और गरीब आदमी आधी छटांक ही पेड़ा लेकर खाये तो स्वाद तो दोनों को एकसा ही आया। यह तो नहीं है कि उस गरीब को पेड़ा कड़वा लगा हो और उस अमीर को मीठा लगा हो, पर इतनी बात है कि अमीर ने पेट भर छककर खाया और गरीब ने छककर पेट भर नहीं खाया, वह तृप्त न हो सका और तरसता रह गया। पर स्वाद तो जैसा उस अमीर को आया तैसा ही इस गरीब को आया। यों ही इस अव्रती महापुरुष को भी इन विभाव कर्मों की निर्जरा के उपाय से आत्मानुभूति प्रकट हुई है और इस सम्यग्दृष्टि पुरुष को कुछ क्षण के नैषकर्म्य यत्न से आत्मानुभूति प्रकट हुई है। स्वाद तो वही आया जो बड़े मुनीश्वरों को आता है। अब इतना अन्तर है कि मुनीश्वर उस अनुभूति सुधारस को छककर पीते हैं और सदा प्रसन्न रहते हैं, तृप्त रहते हैं, उनकी बुद्धि व्यवस्थित है, जो कुछ करना है वह सब उनके लिए सुगम है, किन्तु इस अविरत पुरुष को स्वाद तो उस नैष्कर्म्य के ढंग से आया, झलक तो आत्मानुभूति की आयी, परन्तु संस्कार कषाय में थी वह उदय में आयीं, उनमें उपयोग भी गया, अब आत्मानुभूति छक करके न कर सका। वह तरसता ही रहा।

नियति और नियन्त्रण- कितना उत्कृष्ट आनन्द हुआ करता है इस आत्मानुभूति में? उसे तरसता रहता है यह अविरत ज्ञानी, पर स्वाद वही आया किसी क्षण जो अनुभूति हुई उसमें जो बड़े योगीश्वरों को अनुभूति में आया करता है। यह सब नैष्कार्य का प्रताप है। यह स्वरूपाचरण इस बहिरात्मा जीव को नहीं प्राप्त हुआ, यह स्वरूपविकल रहा, अपने स्वरूप को अपनी उपलब्धि में न ला सका। खुद और खुद का आनन्द न ले सके यह कितने दु:ख की बात है? जैसे खुद की ही वस्तु आजकल के जमाने में कन्ट्रौल में हो जाय तो खुद लाचार हो जाय उसको भोगने में और रखने में। चीज खुद की है ऐसे ही यह ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं का है पर ऐसा यह नियंत्रित हो गया, आवृत्त हो गया कि खुद की ही वस्तु खुद के भोगने में खुद के रखने में नहीं आ रही है। तब फिर जैसे दुकान में माल बहुत पड़ा है, पर उस माल का ग्राहक ही कोई नहीं है। कोई ले ही नहीं रहा है तो उस माल से आय तो नहीं रही। इतना अवश्य है कि उसको संतोष है कि हमारे घर में इतना माल है। ऐसे ही इस जीवक्षेत्र में, जीवास्तिकाय में आनन्द की अपूर्व निधि पड़ी हुई है पर यह उपयोग में न आ रही, इससे कुछ आय नहीं हो रही है, बेकार पड़ा है? पर विदित हो जाय कि हां मेरे में आनन्दस्वभाव की निधि बसी हुई तो उसको मोक्षमार्ग के योग्य ठसक तो रह सकती है कि है हमारे पास सब कुछ।

पास में निधि होकर भी गरीबी- भैया ! जब तक जिसको अन्तस्तत्त्व का अवलोकन ही नहीं हुआ, परिचय ही नहीं हुआ तो वह तो उस गरीब की तरह है जिसके की गठरी में तो लाल बँधा है और वह रोटी-रोटी मांगने की वृत्ति कर रहा है। इस बहिरात्मा जीव ने जो कुछ गड़बड़ भी काम किया उसमें भी सहयोग तो मूल आधार तो इस चित्स्वरूप का ही है। चित्स्वरूप महामणि का उपयोग इस बहिरात्मा जीव ने विषयकषाय जैसे असार गंदी वृत्तियों में किया। जैसे किसी भी भिल्लनी को जंगल में कोई गजमोती, मणि मिल जाय तो उसका उपयोग अपरिचय होने के कारण पैरों के घिसने में किया जाता है, उन्हें पता ही नहीं है कि यह कोई मूल्यवान् पदार्थ है। उस मूल्यवान् मणि का उपयोग पैरों के घिसने में कर रहे हैं वे और लकड़ी बेचकर बड़ी मुश्किल से सूखा रूखा अधपेट ही खाकर अपना जीवन गुजारते रहते है। ऐसे ही अपने आपके स्वरूप में बसी हुई जो चित्स्वभाव महामणि है, चिंतामणि, उसका उपयोग यह जीव विषयकषायों के गंदे उपयोगों में कर रहा है और खुद पर की आशा करके भीख मांगकर दु:खी हो रहा है। जैसे किसी लकड़हारे को कोई मणि मिल जाय और यों ही समुद्र के तट पर बैठे हुए कौवों को मारने के ख्याल से उस मणि को जोर से फैंकता है और वह समुद्र में गिर जाती है। ऐसे ही यह चित्स्वभाव

महामणि इस जीव के समीप है पर बहिर्मुख बनकर बाह्यपदार्थों की ओर दृष्टि देकर इन बाह्य पदार्थों में यह उपयोग फैंक रहा है और बाह्य पदार्थों का लक्ष्य करके उपयोग फैंका जो कि मिथ्यारस में डूब जाता है।

परमार्थदर्शन- इस बहिर्मुख जीव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की भावना नहीं भायी है। कोई निकटभव्य जीव अपने आपमें भेदभावना के अभ्यास से पायी हुई झलक के कारण सम्यक्त्व प्रकट करता है। तब यह जीव रत्नत्रय की भावना से सज्जित होकर मोक्षमार्ग में, शांतिमार्ग में दिन दूना बढ़ता है। अपने आपके सहजस्वरूप का दर्शन ही एक बड़ा प्रभाव ला देता है।

अन्तस्तत्त्व के दर्शन में समस्यावों का समाधान-जगत की मायामय वस्तुवों की समस्त समस्याओं का समाधान एक ही क्षण के निज अंतस्तत्त्व की झलक से हो जाता है। कितनी समस्याएँ पडी़ हुई हैं, कितनी उल्झनें हैं, कितना काम पडा़ है। जिसके कारण कोई तो यह भी कह देते हैं कि हमको जरा भी फुरसत नहीं है पर फुरसत किसके लिए नहीं है? धर्म करने के लिए, ज्ञानार्जन के लिए, प्रभुभक्ति के लिए। तृष्णा पाप के लिए तो 24 घंटे फुरसत है। इस आत्मत्त्व की एक क्षण भी झलक हो तो ये सारी समस्याएँ, ये सारी विडम्बनाएँ, आपत्तियां, अनेक दोस्तियां अनेक वायदे कर लेने से उनकी ओर किए जाने वाले, यत्न के विकल्प में हुई विडम्बनाएँ, जिनमें ऐसा भी महसूस कर लिया जाता है कि यह काम यदि न कर सके तो बहुत आपत्ति है, फिर रहना न रहना बेकार सा है, ऐसी-ऐसी कठिन समस्याएँ भी एक अंतस्तत्त्व की झलक से प्राप्त होती हैं। काम पडे हैं सौ करने के लिए, उन सौ कामों का बड़ा बोझ सिर पर लदा है पर जहां अपने आपके आकिन्चन्य स्वरूप को निरखा, ज्ञानमात्र अपने आपकी झलक पायी और उसमें सहजपरम आनन्द का अनुभव किया उसमें ये सब समाधान हो जाते हैं। मेरे को कहीं कुछ करने को है नहीं। ये सब न किये जायें, न हो ऐसा, जैसा कि अभी कुछ मिनट पहिले सोच रक्खा था, न हो न सही, मेरा कुछ काम अटका नहीं है और फिर मेरे सोचने से इन बाह्य पदार्थों में कुछ परिवर्तन भी नहीं हो पाता है। होता है तो होता है। हमारे विचारने से वहां क्या होगा? ऐसी अंतस्तत्त्व की झलक पा जाने से प्राक् पदवी में भी ज्ञानी पुरुष को बडी़ शान्ति है।

विपदा में भी धैर्य के कारण का एक दृष्टान्त– एक मुसाफिर था दूसरे गांव को जा रहा था। उसे एक जंगल के निकट शाम हो गयी, लेकिन फिर भी थोड़ा चलता रहा तो पगडंडियां कई होने के कारण रास्ता भूल गया और एक जंगल में फँस गया। कोई मार्ग ही न दिखे। अब वह सोचता है कि अब हम जितना आगे बढेंगे उतना ही खोटे मार्ग में बढ़ जायेंगे। न जाने कितना और उलझ जायेंगे? अंत भी कुछ न मिल पायेगा इस कारण इस ही जगह अपने दिल को मजबूत करके ठहर जावे। जब कोई आपत्ति सामने आती है तो धैर्य बन जाता है। जब तक आपत्ति सिर नहीं आती है तो आपत्ति के ख्याल में यह अधीर हो जाता है। थोड़ा कुछ बुखार आने के लक्षण से दिख रहे हों, आया नहीं है, पर लग रहा हो कि अब तो मैं बुखार से घिर जाऊँगा, जितनी अधीरता, जितनी कमजोरी, जितना भय उस समय होता है, 103 डिग्री बुखार चढ़ गया, जाड़ा लग रहा है, कह रहा है रजाई लावो, उस समय इतनी अधीरता नहीं है जितनी कि बुखार आने के पूर्व समय में थी। अब तो जान रहा है कि इससे आगे अब क्या होगा? हो तो गया। अब उस मुसाफिर ने सोचा कि अब जंगल में मैं फंस गया। अब क्या है? सो वह तो धीर बना व वहीं ठहर गया। अब उसके चित्त में शंका ऐसी जरूर है कि मुझे मार्ग मिलेगा या न मिलेगा, या ऐसे ही जंगल में पड़े-पड़े जानवरों के द्वारा खाया जाऊँगा, क्या होगा? शंका तो है, पर उसी समय में बिजली चमकी। उस चमक से बहुत दूर तक का स्थल दिख गया। और यह भी दिख गया कि एक छोटासा रास्ता यहां से निकलता है और वह सड़क दिख रही है, उस सड़क से यह रास्ता मिल गया है, इतना दिख गया। अब फिर वही अँधेरा है, उसी जंगल में पडा़ है, मगर उसके चित्त के मित्र बनाकर उसके चित्त की फोटो लो जरा, क्या अब वह आकुलता है जो पहिले थी? वह तो प्रतीक्षा में है कि बीतने दो रात, चार घंटे का ही तो समय रह गया है रात्रि का। वह रास्ता है, यों जाना है और उस सड़क पर यों पहुंच जायेंगे, उसे धैर्य है, उसके मन में विनिश्चय निर्णय है, आशंका नहीं है।

ज्ञानी का धैर्य और आत्मोपलब्धिपथ- भैया ! ऐसी ही वृत्ति असंयत, सम्यग्दृष्टि की स्थिति की है। यह अविरत ज्ञानी मार्ग पर नहीं चल रहा, पर मार्ग का पूरा पता हो गया, उसे कहते हैं अविरत सम्यग्दृष्टि। अब हुआ सदसद्विवेक का सवेरा और अणुव्रतों की पगडंडियों पर चलने लगा तो यह हुई देशविरत की स्थिति। अभी निर्वाध उत्सर्ग मार्ग पर, आम सड़क पर नहीं

पहुंचा। अभी पगडंडियों से ही चल रहा है, आसपास छोटी मोटी स्नेहसाधनों की झाड़ियां भी है, उनमें उपयोगरूपी वस्त्र भी फंस रहा है, जिसे छुटाता भी जाता है बच-बचकर चल रहा है, यह है देशविरत सम्यग्दृष्टि की स्थिति और जब उत्सर्गमार्ग पर, मैदानी सड़क पर पहुंच गया, साफसुथरी सड़क पर पहुंच गया तो वह आ गयी महाव्रती सम्यग्दृष्टि की स्थिति। निर्ग्रन्थ अवस्था में अब क्या चिंता है? एक ही उद्‌देश्य है। आत्मा के उपासना की, सम्यग्ज्ञान के भावना की। निर्वाध इस ज्ञानपथ से अब चला जा रहा है। यों यह मोक्षमार्ग में भावना हुई है और यत्न हुआ है। ऐसा जीव ही यह विचार सकता है कि मैंने कितना अनन्त काल मिथ्या आशयों में, मिथ्या भावनाओं में गँवाया?

पूर्व अभावित भावनाओं की भावना का ध्येय भव का अभाव- ज्ञानी संत यह भावना भा रहा है कि इस संसार के चक्र में घूमते हुए मैंने जो पहिले कभी भावना भायी नहीं है उन अभावित भावनावों को भवों के अभाव के लिए मैं भाता हूं। संसारभ्रमण का अभाव संसारभ्रमण के कारणभूत भावनावों के विरूद्ध भावनावों के भाने से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग- ये भाव संसारभ्रमण के कारण हैं। संसारभ्रमण का अभाव करने के लिए सम्यक्त्व की भावना, संयम की भावना, निष्कषाय वृत्ति की भावना और निश्चेष्ट रहने की भावना भायी जाती है। जैसा बनना है वैसा अपने को जरा भी निरखे नहीं, उस ओर की भावना ही न करे तो बन कैसे सकता है?

सम्यक् संयत निष्कषाय निश्चेष्टस्वरूप की भावना की आवश्यकता- हमें निरखना है सम्यक्त्वरूप, समीचीन स्वरूप। यदि समीचीन स्वरूप का हम दर्शन ही न करें, विश्वास ही न रक्खें तो सही स्वरूप की प्रकटता कैसे हो सकती है? हमें होना है पूर्ण अंत:संयमरूप, क्योंकि अविरत के परिणाम से संसार का भ्रमण ही चलता रहता है। उन अव्रत परिणामों से दूर होना अत्यन्त आवश्यक है। अविरत परिणाम से जहां सर्वथा दूर हो जाया करता है वहां अंत:संयम की परिस्थिति हो जाती है। अपने आपमें अंत:संयम की जो स्थिति है, स्वरूप है उसकी भावना भाये बिना यह अंत:संयम नहीं हो सकता है। हमें होना है निष्कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित। तो निष्कषाय का जो स्वरूप है, ज्ञायकस्वभाव है उसका दर्शन विश्वास हुए बिना निष्कषाय की वृत्ति जग कैसे सकती है? हमें होना है नि:स्पंद, निश्चल, निश्चेष्ट क्योंकि सकम्प रहने में, चेष्टावान रहने में कोई आत्मकल्याण नहीं है, क्षोभ ही है। जब तक अपने आपको निश्चेष्ट ज्ञानमात्र स्वरूप में न निहारें प्रतीति न करें तो यह स्थिति हमारी कैसी बन सकती है? अत: भवों के अभाव के लिए, संसार के सारे संकट समाप्त करने के लिए सम्यक्त्व आदिक भाव भाना सर्व प्रथम आवश्यक है।

संसारभ्रमण- इस जीव ने अब तक संसारचक्र में चलते हुए रागद्वेष की कीली पर स्वक्षेत्र में वहीं के वहीं रहते हुए इस भावसंसार में परक्षेत्र में ३४३ घन राजू प्रमाण इस लोक क्षेत्र में भ्रमण ही किया। यहां बाह्य क्षेत्र के भ्रमण से तो कोई हानि न थी। हानि तो भावसंसार के जो चक्र लगे हैं उनसे होती है, पर यह बात अवश्य है कि भावसंसार का भ्रमण न रहे तो यह द्रव्य, क्षेत्र का भ्रमण हो नहीं सकता, पर इन दोनों प्रकार के भ्रमणों में आकुलता का कारणभूत भाव भ्रमण ही है।

भोग और भोगियों का स्नेह बरबादी का कारण- इस जीव ने पंचेन्द्रिय के विषयों में, मन के विषयों में सुख माना है और इस कारण इन इन्द्रियविषयों में दौड़ दौड़कर भागता है। मन का विषय भी इतना तीव्र बना लिया है कि सारे विश्व पर एकक्षत्र तक राज्य करने का इसके चाव हो जाता है, और इतना ही नहीं, स्वयं भी संसारगर्त में गिरने का काम कर रहा है तथा दूसरों को भी इसी संसारगर्त में गिराने का यत्न कर रहा है, उन्हें उपदेश दे रहा है ऐसे भोग भोगो। जिन पर इस संसारी जीव का प्यार होता है वह उन्हें बरबाद करके रहता है। जैसे क्रूर जानवरों का स्नेह बरबादी का कारण है अथवा सिंह का अशन किसी जीव वध का ही कारण है, दुष्टों का प्रेम अथवा बेवकूफों का प्रेम किसी को आपत्ति में फंसाने का ही कारण है, ऐसे ही इस मोही पुरुष का प्यार जिस पर भी पहुंचे स्त्री पर पुत्र पर तो वह प्यार उन्हें बरबाद करने का ही कारण होता है, क्योंकि प्यार में क्या करेगा यह? इस जीव का मोह और अज्ञान के कारण जिन विषयों में सुख जंचा है उन विषयों का ही उपदेश देगा, उनमें लगाने का ही यत्न करेगा। यों खुद भी डूबा और दूसरे जीव को भी डुबाया। यह स्थिति रहती है इस मोही जीव की।

अन्त:प्रवेश बिना घोर उपद्रव- अहो असार भोगों में लीन रहने का काम इसने एक ही भव में नहीं किया किन्तु अनादि काल से यहां यह करता चला आ रहा है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, इसने भोगविषयों की कथाएँ अनन्त बार सुनीं, अनन्त

बार अनुभूत कीं, परन्तु खेद की बात है जो अति सुगम स्वाधीन आनन्दरूप ज्ञानभाव है उस ज्ञानभाव की ओर इसने दृष्टि नहीं की। जैसे जमुना नदी में तैरने वाले कछुवे जो कि बाहर मुँह निकाले रहते हैं वे पक्षियों के उपद्रव से दु:खी होते हैं। पक्षी उस कछुवे की चोंच को चोंटना चाहते हैं और यह बेवकूफ कछुवा ऊपर ही मुँह उठाये यहां का वहां बचना चाहता तो वह कितना मूर्ख है कि उन १०, २०, ५० पक्षियों के उपद्रव से दूर होने का उसके पास सुगम स्वाधीन सामान्य भ्रमरहित उपाय है और उसे नहीं कर पाता है, यह उपाय यही है कि थोड़ा चार अंगुल भीतर डूब जाय। जो बाहर में चोंच निकाल रक्खी थी उस चोंच को उस जल के अन्दर ही कर लेवे, सारे पक्षी वहां से भाग जायेंगे, उपद्रव से वह कछुवा बच जायेगा। ऐसे ही यह मोही प्राणी अपने स्वरूप से, अपने क्षेत्र से बाहर परपदार्थों की ओर उपयोग होने से और उन्हीं की ओर दूसरों का भी उपयोग होने से दु:खी है। संसार की यह पौद्गलिक सम्पदा जितनी है उतनी ही है। उसके चाहने वाले अनगिनते लोग हैं तब वहां विवाद कलह झगड़ा होगा ही। हर एक कोई उसे समेटना चाहता है, इसी से उपद्रुत है और दु:खी है। उन सर्वसंकटों के मिटने का यही उपाय है कि अपनी ओर प्रवेश कर ले।

बिना मूल की बातों के स्वप्न के संकट- अच्छा, पौद्गलिक सम्पदा की बात जाने दो। इस सारे विश्व का मैं नेता बन जाऊँ, ऐसी चाह करने वाले भी तो अनगिनते लोग हैं, जीव हैं। अब बतावो यहां कुछ बात भी नहीं, फिर भी इतना बड़ा विवाद बन जाता है कि जितना सम्पदा के पीछे विवाद नहीं बनता है। झगड़े का जितना फैलाव है, झगड़ने की जितनी संख्या है उनमें ९५ प्रतिशत झगड़े केवल बात की शान के हैं। पौद्गलिक सम्पदावों के सम्बन्ध में झगड़े ५ प्रतिशत होते हैं। खूब ध्यान से सोच लो, घर में भी दिन भर में अगर ५० बार झगड़ा हो जाता है तो वहां भी देख लो कि बात की शान के झगड़ों की कितनी संख्या है और धन वैभव सम्पदा के पीछे होने वाले झगड़ों की कितनी संख्या है? उन सब संकटों को नष्ट करने की जिस भाव में सामर्थ्य है, उस ज्ञानभाव में आस्था नहीं की। फिर बतावो यह मुफ्त का संकट कैसे मिटेगा?

स्वदया का यत्न- यह ज्ञानभाव अत्यन्त सुगम स्वाधीन है। कहीं बाहर लेने को नहीं जाना है, किन्तु अंतरंग में ही वह व्यक्त है, अंत:प्रकाशमान् है, पर यह उपयोग कितने समूह के साथ एकमेक घुलमिला रंगीला बन गया है जिसके कारण अब इस उपयोग को अंतरंग में विराजमान् यह कारणसमयसार प्रभु नहीं दिख रहा है। इसे तो इस जीव ने खुद जानने का यत्न नहीं किया और दूसरे जीव जो जानते हैं उन ज्ञानी संतों का सत्संग भी नहीं किया। इसी से इसे अपना यह ज्ञानमय एकत्व दृष्टिगत नहीं होता। इस ही में अपनी दया है, अपनी भलाई है कि इन सब मोह और अहंकार की भावनावों का परित्याग करें और सम्यक्त्वरूप, आकिन्चन्यरूप शुद्ध तत्त्व की भावना बनाएँ। इसही उपयोग से यह परमार्थप्रतिक्रमण प्रकट होता है, जिस पुरूषार्थ के बल से भव-भव के बांधे हुए कर्म क्षण मात्र में ध्वस्त हो जाते हैं।

गाथा ९१

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइ ऊण णिखसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं।।९१।।

रत्नत्रय के भावक की प्रतिक्रमणरूपता- अब फिर भी प्रतिक्रमणस्वरूप ज्ञान की चर्चा प्रकट कर रहे हैं। जो भव्यपुरुष सर्वप्रकार से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का त्याग करके सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भाता है वह पुरुष स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप है। जिस किसी पुरुष के बारे में प्रशंसा की जाती है तो यों भी कह देते हैं कि तुम्हें शांति देखनी है तो इसको देखिये यह है शांति। तुम्हें संतोष ढूँढ़ना है तो अमुक चंद को देखिये यह है संतोष जीता जागता। शुद्धभाव और भाववान में अभेद करके भी बात कही जाती है और तथ्य भी यही है कि भाव और भाववान् कोई अलग पदार्थ नहीं है। जिस जीव ने इन मिथ्यात्रयों का त्याग किया है और रत्नत्रय की भावना की है वह पुरुष स्वत: ऐसा निर्दोष गुणपुन्ज हो जाता है कि यह ही साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप है।

मिथ्यात्रय का त्याग व रत्नत्रय का लाभ- मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्र का त्याग और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का स्वीकार एक साथ होता है, सर्वथा मिथ्यात्व का त्याग हो गया इसका अर्थ है कि सम्यक्त्व का लाभ हो गया। सर्वथा मिथ्याज्ञान का परिहार हो गया इसका अर्थ है कि सम्यग्ज्ञान का विकास हो गया। सर्वथा मिथ्या आचरण का परिहार हो गया इसका अर्थ

है कि सम्यक्चारित्र का अभ्युदय हो गया। जैसे अँधेरा और प्रकाश दोनों एक जगह नहीं रह सकते हैं। परस्पर विरूद्ध चीजें हैं, ऐसे ही यह मिथ्यात्रय और रत्नत्रय एक आत्मा में एक समय में नहीं रह सकता है। जिस मुमुक्ष जीव के रत्नत्रय की स्वीकारता हो गयी है उसके यह निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

मिथ्यात्रय का निर्देश- ये मिथ्यात्व आदिक क्या हैं? कुछ इनके स्वरूप को देखिये। सम्यग्दर्शन कहलाता है मोक्षमार्ग के अनुकूल पथ का श्रद्धान होना, उसके विपरीत आशय होना यही है मिथ्यादर्शन। इसमें होता है मोक्षमार्ग के प्रतिकूल अमार्ग का अथवा मार्गभास का श्रद्धान। अरहंत सर्वज्ञदेव जिस मार्ग से चलकर बने हैं वह मार्ग है सहज सिद्ध स्वत:सिद्ध कारणसमयसारस्वरूप आत्मतत्त्व का श्रद्धान, परिज्ञान और इस ही रूप ज्ञातादृष्टा बने रहने रूप सम्यक्चारित्र की एकता। इस मुक्ति मार्ग के विरूद्ध संसार का मार्ग है। वह क्या है? उस सहज अंत:स्वभाव के विपरीत अन्य–अन्य परभावों का आत्मरूप में विश्वास होना और ऐसा ही परिज्ञान होना और ऐसे ही बाह्य पदार्थों में विषय कषायों में लीन होना।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में प्रतीतिविरोध- यह मिथ्यात्रय सम्यक रत्नत्रय से बिल्कुल विरूद्ध भाव है। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थों से न्यारा हूं, ऐसी श्रद्धा है सम्यग्दर्शन में तो मिथ्यादर्शन में यह श्रद्धा है कि ये दृश्यमान् पदार्थ ये परिजन ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे स्वरूप हैं, ऐसी मिथ्या श्रद्धा है मिथ्यात्व में। सम्यग्दर्शन में विशुद्ध वस्तुस्वरूप की श्रद्धा है तो मिथ्यादर्शन में वस्तुस्वरूप की विपरीत श्रद्धा है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा सम्यक्त्व में प्रतीत होता है। मिथ्यात्व में इस असमानजातीय पर्याय को निरखकर मैं सांवला हूं, गोरा हूं, बड़ा हूं, लम्बा हूं, धनवान हूं, अमुक पोजीशन का हूं इत्यादि विपरीत धारणाएँ होती हैं, सम्यक्त्व के प्रकाश में अपनी शाश्वता नजर आती है। मैं अनादि अनन्त एक स्वरूप हूं। कर्म लेप वश चाहे यहां से वहां कहीं भी भागना पड़े जिस पर भी यह मैं चेतन शाश्वत हूं। यह न पैदा होता है और न मरता है। तो मिथ्यादर्शन में यह विश्वास बना होता है लो अब यह मैं मर गया, अब मैं यह जन्म गया। मिथ्या प्रतीतियों में आकुलता और क्षोभ ही होता है, वहां शांति प्रकट नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान में जानन की पद्धतियां- सम्यग्ज्ञान के विस्तार में यथार्थविकासबुद्धि होती है। जो जैसा पदार्थ है, जिस स्वरूप में है उस स्वरूप में ही परिज्ञान रहना सो सम्यग्ज्ञान है, किन्तु मिथ्याज्ञान में अवस्तु में वस्तुबुद्धि होती है और वस्तु का जो कुछ परिचय ही नहीं है। जैसे बालक लोग बरसते हुए पानी में उठते हुए बबूले को देखकर जलमयता की तो दृष्टि भी नहीं रखते, किन्तु यह बबूला ही सब कुछ है ऐसा सोचते हैं। यों ही यह मोही बालक इन दृश्यमान् पदार्थों में परमार्थभूत द्रव्य का कुछ ईक्षण भी नहीं करता है, किन्तु इसी दृश्यरूप को ही वास्तविक मानता है। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो तब ही शांति का पथ प्राप्त हो सकता है।

मिथ्याचारित्र और सम्यक्चारित्र में अनुभवनभेद- भगवान अरहंत परमेश्वर सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत हुए सन्मार्ग के विरूद्ध जो संसार में रूलाने वाला मार्ग है उस मार्ग पर लगना सो मिथ्याचारित्र है। मिथ्याचारित्र में इस जीव को निरन्तर आकुलता बनी रहती है। यह जीव चाहे विषयों की प्राप्ति कर ले और उनके भोगने के समय भी यद्यपि यह मोही मौज मान ले, किन्तु उसके भीतर निरन्तर आकुलता बर्त रही है। भोगों के सुखों को भोगने की आकुलता न हो तो उन सुखों के भोगने की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। भोगों के भोगने की प्रवृत्ति आकुलता के ही कारण होती है, किन्तु सम्यक्चारित्र में निरन्तर अनाकुलता का अनुभव होता है।

सम्यक् चारित्र व मिथ्याचारित्र के पथभेद का मूल स्थान- सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र में मूल में थोड़ा ही अन्तर है विधि का या यों कह लीजिए कि मानो प्रदेशमात्र का अन्तर है अर्थात् सम्यक्चारित्र में तो है निज में प्रवेश और निज से रंच भी बाहर उपयोग रमा तो वह है मिथ्याचारित्र की दौड़, पर इस अंत: और बाह्य का इतना मूल का अन्तर शान्ति और अशान्ति के महान् विस्तारभाव को प्रकट कर देती है।

धर्मप्रवेश के लिये मिथ्यात्रय के परिहार की प्रथम आवश्यकता- आत्मस्वरूप से विमुख होकर अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व का दर्शन करना, अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व का बोध रखना और अनात्मतत्त्व में रमन करना, संतोष करना यह है मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र। इन तीनों का जो सर्वथा परित्याग करता है उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण हो सकता है। परमार्थप्रतिक्रमण में दोषों की निवृत्ति है। दोषों से लिपटकर दोषों से निवृत्ति कैसे हो सकती है, इसलिए परमार्थ शुद्धि के लिए

मिथ्यात्रय के परिहार की सर्वप्रथम आवश्यकता है। जैसे धर्म के मार्ग में, धर्म के दरबार में कोई प्रवेश करना चाहे तो उससे यह कहा जायेगा कि पहिले तुम मिथ्यात्व का परिहार कर आवो। सबसे पहिली शर्त है यह, तब इस धर्म के मार्ग में प्रवेश कर सकते हो।

मिथ्यात्रय का स्वरूप- इस मिथ्यात्रय का अध्यात्मपद्धति से भी स्वरूप निरखो। निज आत्मतत्त्व का श्रद्धान होना और उसका परिज्ञान होना और इस निज आत्मतत्त्व में ही इसका अनुष्ठान होना, यह तो है इसका स्वरूप भाव। इसके विमुख होना अर्थात् स्वात्मतत्त्व का श्रद्धान नहीं है व अनात्मतत्त्व में आत्मरूप से श्रद्धान है, निज आत्मतत्त्व का परिज्ञान नहीं है, किन्तु इस दृश्यमान् मायामय बाह्य पदार्थों को स्कंधों को निरख निरखकर ये ही सब कुछ हैं और अपने से निमित्तनैमित्तिकरूप से विषयीभाव से सम्बन्धित देहादिक पदार्थों में यह मैं हूं यह मेरा है, इस प्रकार का परिज्ञान होना और आत्मतत्त्व में तो अनुष्ठान न होना किन्तु अनात्मतत्त्व में इसकी बुद्धि जाय, उपयोग लगे तो यह सब है मिथ्यात्रय। ऐसा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रात्मक विभाव परिस्थिति का त्याग करके ही परमार्थप्रतिक्रमण की प्राप्ति की जा सकती है।

परमार्थप्रतिक्रमण के अधिकारी का आश्रयभूत त्रिकाल निरावरण अन्तस्तत्त्व- परमार्थप्रतिक्रमण का अधिकारी निश्चयरत्नत्रयात्मक आत्मा ही है। निश्चयरत्नत्रय का विषय शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व होता है। यह कारणपरमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण है। निज सत्त्व के कारण जो स्वरूप बना हुआ है उस स्वरूप पर आवरण कभी नहीं होता। निमित्तनैमित्तिकयोग के फंद में स्वरूप का शुद्ध विकास नहीं हुआ यह तो होता है, परन्तु स्वरूप का आवरण कभी नहीं होता है। सहज सत्त्व के कारण जो सहजस्वरूप है वह तो सदा ही है, उस पर आवरण नहीं होता। यह कारणसमयसार त्रिकाल निरावरण है और यह कारणसमयसार ही आनन्दस्वरूप है। जिसका जो स्वभाव है वह कभी मिट नहीं सकता। चाहे वह ढक जाय, उसका शुद्धविकास न हो, किन्तु स्वभाव कभी बदल नहीं सकता है। यह जीव अनादिकाल से द्रव्यकर्म के आवरण से आवृत्त है और उसके उदय का निमित्त पाकर भावकर्म के आवरण से साक्षात् आवृत्त है। इतने पर भी इस जीव का जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वभाव है वह स्वभाव न हटा। चाहे यह कितने ही काल बाद शुद्धविकास को प्राप्त हो, वह शुद्धविकास इस स्वरूप में से ही तो प्रकट होगा। स्वरूप किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होता है।

निश्चय रत्नत्रय- आत्मा का स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। ज्ञानानन्दस्वरूप निरन्जन निज पारिणामिक भावरूप जो कारणसमयसार है वह ही परमार्थ आत्मा है। उस आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान हो, ज्ञान हो और ऐसी ही जानने देखने की स्थिति निरन्तर बनायी जाय, यह है शुद्ध रत्नत्रय। ऐसा निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो परम तपस्वी महंत संत हैं वह ही परमार्थप्रतिक्रमण स्वरूप हैं।

निकटभव्य की अभिलाषा- यह भव्य इस परमार्थ निजतत्त्व के स्वरूपरूप शुद्ध आनन्द का अभिलाषी है। जिसे शुद्ध आनन्द चाहिए उसे अपनी अभिलाषा का निर्णय कर लेना चाहिए कि मैं किस रूप हूं? ये जगत् के बाह्य पदार्थ जो मायामय हैं, भिन्न हैं, जिनका कुछ विश्वास भी नहीं हैं, ये जब तक साथ रह सकते हैं और कब तक साथ भी रहते हैं तब तक आकुलता और बरबादी का ही निमित्तरूप से सहयोग दे रहे हैं। ऐसे इन भिन्न असार भोगों के सुख की अभिलाषा एक बड़ा धोखा है। हुए हैं आज मनुष्य, मिला है पुण्य का उदय, भोग सकते हैं नाना तरह से विषयभोग, किन्तु यदि इस सामर्थ्य का ऐसा दुरूपयोग किया कि भोगों में ही समय लगाया तो यह आत्मपदार्थ का और संसार क्लेश का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चलता रहेगा।

विषयान्ध की स्थिति- जो भोगविषयों में रहकर अपना ज्ञानबल नष्ट कर देगा वह पुरुष कैसी दुर्गति का पात्र होगा, ऐसा कुछ तो आंखों ही निरख लो। कितनी तरह के जीव जंतु इस संसार में भरे हुए हैं? वनस्पतियों का कोई ठिकाना नहीं है, ये अनगिनते प्रकार के हैं। अन्य स्थावर दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदिक कीड़े मकौड़े वगैरह ये सब ऐसी दुर्गति के स्थान हैं, ऐसी ही दुर्गति अपनी स्वच्छन्दता के फल में हो जायेगी तब फिर कहां शान रहेगी? यहां तो कल्पित शान के पीछे मरे जा रहे हैं और इस कल्पित शान के अंधेरे में अपने अंतरंग की शान नहीं रखी जा रही है। भोगों से अरूचि होना और मायामय विभूतियों की प्रीति से दूर होना, इन सब उपायों से इस ज्ञान की रक्षा करना चाहिए, तभी आत्मा की वास्तविक शान रहेगी।

मोहनिद्रा के स्वप्न की चाँदनी- भैया ! यहां तो यह दो दिन की चाँदनी है, स्वप्न है। इस स्वप्न में कुछ भी बन जावो पर यह सदा टिक नहीं सकता। जैसे किसी घसियारे को स्वप्न में राज्यपद मिल जाय, थका हुआ था उसे बडी़ गहरी नींद

आयी, कुछ समय बाद उसे स्वप्न आ जाय कि मैं राजा बन गया हूं, लो बहुत से राजा लोग मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मैं लोगों पर हुकूमत कर रहा हूं, ऐसा कुछ स्वप्न आये तो बतावो वहां वह यथार्थ आनन्द ले रहा है या कल्पित सुख में ही मौज मान रहा है? थोडी ही देर बाद नींद खुल जाय तो वहां क्या था? न कुछ पहिले था, न अब कुछ रहा। पहिले भी वह केवल कल्पना मात्र थी, अब वह कल्पना मिट गयी, वह नींद मिट गयी। कहां रहा वह सब कुछ? वह तो कल्पित बात थी। इसी प्रकार कुछ धन वैभव मिला, कुछ इज्जत मिली, कुछ राज्य, शान चला, प्रतिष्ठा मिली तो यह सब मोह की कल्पना है। मोहनिद्रा के स्वप्न हैं। यह टिक नहीं सकता, रह नहीं सकता। कुछ चीज हो मौलिक तो कुछ ठीक है, पर वहां तो कल्पना के विचार ही रहते हैं।

मायामय शान की प्रसारता- भैया ! इन इन्द्रियविषयों में, इन मन की दौड़ों में जो इतना भागे जा रहे हैं, ये कल्पनाएँ, विषयसुख इनकी अभिलाषा करना व्यर्थ है। निजस्वरूप के अनुभव में उत्पन्न हुआ जो सहज आह्लाद है, निराकुलता है, सब निराकुलता की अभिलाषा बना लेना यह एक बहुत बड़ा पुरूषार्थ होगा। जो संग आपको विषयभोगों में प्रेरित करता हो, जो संग इन मायामय पदार्थों के संचय कराने में प्रेरित करता हो, जो संग यहां की छोटी इज्जत पोजीशन के बनाने में प्रेरित करता हो, वह संग तो आपकी बरबादी के लिए है। उससे अपना भला न समझिये। लौकिक शान भी अपने पास वास्तविक शान हो तो शोभास्पद बनती है। जैसे आजकल के जमाने में गणराज्य के वोटों द्वारा शान मिलने वाले खोटे समय में भीख मांगकर शान बनाएँ तो इसमें कौनसी शान रही? शान तो वह है कि जहां प्रजाजन हाथ जोड़कर आयें और कहें कि आप हमारा मार्गदर्शन कीजिए, हम लोग दु:खी हैं। अपना शुद्ध ज्ञानप्रकाश हो, तब समझो कि वह शान है। ऐसी शान उस पुरुष के ही हो सकती है जो इस मायामय शान से अपनी शान न मानता हो और अपने आध्यात्मिक शान को प्रगतिशील बनाए हो उसके ही वास्तविक लौकिक शान रह सकती है।

अभिलाषा के विषयनिर्णय की आवश्यकता- भैया ! पहिले तो अभिलाषा के विषय का निर्णय कर लो। तुम्हें किसकी तो अभिलाषा करना है और किसकी अभिलाषा नहीं करना है? यद्यपि हम आपकी वर्तमान परिस्थितियां ऐसी हैं कि जिनमें अनेक पदार्थों का संचय भी करना पड़ेगा, करना पड़ता है और लौकिक यश भी रखना पड़ता है, इस पर भी ज्ञान है, विवेक है तो श्रद्धा तो इस ओर ही होना चाहिए कि अभिलाषा करने के योग्य तत्त्व है कुछ, तो वह है आत्मा का सहज परम आनन्दस्वभाव। जो पुरुष निज परमतत्त्व के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परमसहज आनन्द का ही अभिलाषी है वही पुरुष परमपुरुषार्थी है। आत्मा का परम पुरुषार्थ है अपने आपको ज्ञानस्वरूप में निहारना और अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव करना और ऐसा ही अनुभव निरन्तर बनाए रहना, ऐसे परम पुरूषार्थ में वही पुरुष उद्यमी हो सकता है जिसने की अपनी अभिलाषा के यथार्थ विषय का परिपूर्ण निर्णय कर लिया हो। ऐसा परमपुरुषार्थी पुरुष ही निश्चयरत्नत्रयादिक आत्मा की भावना करता है।

तपस्या से दोषी की निर्दोषिता की सिद्धि- जो संत निश्चयरत्नत्रयात्मक आत्मा की भावना करता है वही परम तपस्वी है। तपस्या किसे करना है? जो दोषी हो उसे तपस्या करना है ताकि तप के प्रसाद से उन दोषों की निवृत्ति हो जाय। यह शरीर तो दोषी है नहीं। हमें विपत्तियों में लगाने वाला तो है नहीं। फिर इस शरीर को ही दण्ड देते रहने से तपस्या कैसे सम्भव होगी?

अज्ञानी की तपस्या में आशय- शरीर की तपस्या, ये धूप, ठंड, गरमी, अनशन आदि कराना कई परिस्थितियों में हुआ करता है। जैसे एक तो अज्ञान दशा में होता है। मुझे मोक्ष जाना है, मुझे धर्म करना है अथवा मुझे लोग समझे कि यह साधुसंत हैं इससे अपना आचरण बिल्कुल शुद्ध बनाना है अथवा अपने आपमें ऐसी धुन बन जाय कि मैं साधु हूं, मुझे तो ऐसी अनेक तपस्याएँ करना ही चाहिए, इन सब अज्ञान के आशयों से भी देह की तपस्या करायी जाती है। तपाना तो था इस सदोष आत्मा को किन्तु इसकी दृष्टि न होकर इस अज्ञानी ने तपा दिया है इस देह को। देह का तपश्चरण ज्ञानी पुरुष भी करते हैं, पर ज्ञानी पुरुष जिस विवेक से जिस पद्धति से तपश्चरण किया करता है, उन मर्मों का तो परिचय है नहीं और बाहरी बातें निरखकर ही यह अज्ञानी देह का तपश्चरण कराने लगें, इससे तो सिद्धि न होगी।

ज्ञानी के मर्म से अपरिचित अज्ञानी द्वारा किये गये नकल के विडम्बना का एक दृष्टान्त- एक बार किसी ऊँट ने कुम्हड़ा खाया। पूरा कुम्हड़ा मुँह में डाल लिया तो वह गले में अटक गया। अब वह ऊँट बहुत तड़फे। एक समझदार वैद्यराज निकले।

उनके साथ एक बेवकूफ चपरासी भी था। ऊँट वाले ने वैद्यराज से प्रार्थना की कि महाराज मेरा ऊँट बहुत बीमार है इसे ठीक कर दीजिए। वैद्य ने उसे ऊपर नीचे देखा और परखकर कहा- हम तुम्हारा ऊँट अच्छा कर देंगे। लावो एक बड़ा पत्थर और एक कुछ छोटा पत्थर दो। पत्थर लाये गए। ऊँट के गले के नीचे एक पत्थर रक्खा और दूसरे पत्थर से उस जगह जहां कि कुम्हड़ा था, कूट दिया। कुम्हड़ा फूट गया और ऊँट उसे निगल गया। अच्छा हो गया। अब वह चपरासी सोचता है कि मैं व्यर्थ ही छोटी नौकरी करता हूं। पैसा कमाने का यह तो बढ़िया उपाय है, सो वह नौकरी छोड़कर स्वतंत्र वैद्यराज बन गया। अब वह देहातों में निकल गया, कहता है कि हम बड़े नामी वैद्यराज हैं, हर एक रोग की हम पेटेन्ट चिकित्सा करते हैं। एक गरीब पुरुष के घर में एक अधबुढ़िया बीमार भी, घर वालों ने उस वैद्यराज को बुलाकर कहा कि हमारी मां बीमार है उनका इलाज कर दीजिए। तो वैद्य जी ने झट दो पत्थर मंगाये, एक पत्थर बुढ़िया के गले के नीचे रक्खा और दूसरे पत्थर से चोट लगा दिया तो वह बुढ़िया मर गयी। तो समझदार की वृत्ति की नकल अज्ञानी करे तो क्या कार्य सिद्धि हो जायेगी?

तत्त्वमर्म से अपरिचित अज्ञानी के तपश्चरण से कार्य की असिद्धि- ज्ञानी संत पुरुष किसी पद्धति से देह का भी तपश्चरण किया करते हैं, इस बात का मर्म तो विदित न हो और ऊपरी ही वृत्ति देखकर यह अज्ञानी देह का तपश्चरण करे तो क्या उससे कार्यसिद्धि होगी? नहीं होगी। तपश्चरण के अनेक कारण हैं। प्रथम कारण तो यह अज्ञानियों का बताया है। अब ज्ञानियों का कारण भी समझिये कि ज्ञानी पुरुष किस परिणाम को रखकर देह का तपश्चरण किया करते हैं?

ज्ञानी के तपश्चरण का उद्देश्य- ज्ञानी जीव की तपस्या का उद्देश्य क्या है? इसे सुनिये- एक तो यह है कि चूंकि विषयकषायों में चैन मानने का साधन इस देह का आराम है। इस कारण विषय-कषायों में प्रवृत्ति न हो सके, इस निर्दोषता के लिये वह ज्ञानी देह का तपश्चरण करता है। दूसरा कारण यह है कि आराम सहित याने बिना श्रम कष्ट के प्राप्त किया हुआ ज्ञान किसी दु:ख के आने पर नष्ट हो सकता है। इस कारण उस पुरुष के ज्ञान की निधि की सुरक्षा के लिए देह का तपश्चरण करना उन्होंने आवश्यक समझा है ताकि यह सामर्थ्य बनी रहे कि दु:ख और उपसर्ग के होते हुए भी अपने पाये हुए ज्ञान का विनाश न हो सके। तीसरा कारण यह है कि देह के तपश्चरण की परिस्थिति में ऐसी सहज वृत्ति बनती है कि कषाय भावों का विस्तार न होकर एक अध्यात्ममार्ग में उसकी प्रतीति होती है। इस आत्मकल्याण की साधना का उद्देश्य रखकर ज्ञानी जीव देह का तपश्चरण करता है।

ज्ञानी के पुरुषार्थ का फल- समस्त विभावों को छोड़कर तथा व्यवहार रत्नत्रयमार्ग के साधन से निश्चयरत्नत्रय के साधन की योग्यता पाने पर व्यवहाररत्नत्रय को भी छोड़कर निज अंतस्तत्त्व के ज्ञानी आत्मतत्त्व का अनुभवन करने वाले पुरुष ऐसे निज ज्ञान के श्रद्धान और निज के आचरण को प्राप्त करते हैं जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व में शाश्वत नियत है। परमार्थज्ञाता पुरुष इस आत्मा में सदा काल नियत जो ज्ञायकस्वरूप है उस ज्ञायकस्वरूप का श्रद्धान कि इतना ही मात्र मैं हूं, ऐसी दृढ़ प्रतीति और इस स्वरूप का ज्ञान और इस आत्मस्वरूप में रमना, ऐसे रत्नत्रय की एकता को प्राप्त करते हैं।

गाथा ९२

उत्तम अट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुनिवरा कम्मं।
तम्हा हु झाणमेव हि उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं।।९२।।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण- उत्तम पदार्थ आत्मा है। उस आत्मा में अवस्थित रहने वाले मुनीश्वर कर्मों का विघात करते हैं इस कारण ध्यान ही वास्तव में इस उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणों में अंतिम प्रतिक्रमण उत्तमार्थप्रतिक्रमण कहा गया है। उत्तमार्थप्रतिक्रमण का व्यवहारमार्ग में तो यह अर्थ है कि साधक पुरुष अपने जीवनभर के दोषों की शुद्धि, गुणों के विकास की प्रगति करते हुए जब अंतिम देहत्याग की अवस्था में हो तो उस समय सारे जीवन के किए हुए दोषों की शुद्धि करना और अपने आपको शुद्ध सन्मार्ग में ले जाना सो उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। यहां उत्तमार्थप्रतिक्रमण का अर्थ आवीचिमरण में उत्तमार्थप्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, इस दृष्टि को रखकर किया गया है। यह आत्मा प्रतिक्षण अपनी आयु को गँवा रहा है। आयु के क्षय का ही नाम मरण है। यह जीव प्रतिसमय आयु के निषेकों का क्षय कर रहा है, इस कारण एक जीवन में ही

प्रतिसमय मरण हो रहा है। इस मरण का नाम है आवीचिमरण। आवीचिमरण में इस उत्तमार्थ आत्मा का कर्तव्य है कि वह उत्तमार्थप्रतिक्रमण करे।

उत्तमार्थ का उत्तमार्थप्रतिक्रमण- लोक में समस्त द्रव्यों की जातियां ६ हैं- जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन समस्त द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। यद्यपि स्वरूपदृष्टि से सभी द्रव्य अपने आपमें अपनी महत्ता रखते हैं, किन्तु इन सब द्रव्यों की व्यवस्था करने वाले अर्थात् जानने वाले और इसके सत्त्व को प्रसिद्ध करने वाले जीवपदार्थ ही हैं। इस कारण जीवपदार्थ सर्वपदार्थों में श्रेष्ठ है। ऐसे इस उत्तम अर्थ, श्रेष्ठ पदार्थ, जीव को क्या करना चाहिए प्रतिसमय? उसका इसमें समाधान है। उत्तमार्थ जीव को उत्तमार्थप्रतिक्रमण करना चाहिए। उत्तमार्थप्रतिक्रमण का अर्थ है उत्कृष्टों में जो उत्तम है, उत्कृष्ट है उसके अर्थ दोषशुद्धि करना चाहिए। उत्तमार्थ है जीवद्रव्य। उसका अर्थ है उत्कृष्ट और उसमें भी तम है, उत्कृष्ट है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानन्द स्वरूप यह अंतस्तत्त्व। उस अंतस्तत्त्व के अर्थ अर्थात् उस अंतस्तत्त्व की प्राप्ति व अनुभूति के लिए जो विभाव भावों से निवृत्त निर्दोष आत्मतत्त्व का ध्यान किया जाता है वही उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इस गाथा में निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण का स्वरूप कहा गया है।

भागवत उत्तमार्थ प्रतिक्रमण- व्यवहारमार्ग में, मरणकाल में जिनेश्वर मार्ग के अनुसार अर्थात् सर्वज्ञ भगवान ने जो मार्ग बताया है उसके अनुसार सल्लेखना धारण करने को उत्तमार्थप्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव के मार्ग में मुनीश्वरों को सल्लेखना की विधि बतायी गयी है उसी तरह सल्लेखना करते हुए के समय में अधिक से अधिक 32 मुनि उत्तमार्थप्रतिक्रमण कराते हैं, योग्य मुनीश्वर जब सल्लेखना धारण करते हैं तो चूंकि सल्लेखना का काम बहुत उत्कृष्ट है, भविष्य का लाभ अलाभ सब मरण समय पर निर्भर रहता हैं, अत: उस समय सर्वमुख्य कार्य उस एक मुनि महाराज का शुद्ध विधिसहित सल्लेखनामरण कराना है। सल्लेखना का कार्य इतना प्रधान है कि उनकी सेवा में लगे हुए मुनिजन सेवा के समक्ष सामायिक काल को भी नहीं गिनते हैं। सामायिक छोड़कर भी समाधिमरण करने वाले की सेवा की आवश्यकता हो तो उस सेवा को करना उस समय वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

मुनिराज की सल्लेखना के समय में परिचारक मुनि क्या करते हैं? चार मुनि तो दो-दो करके अदला बदली से संन्यासमरण करने वाले साधुसंत के पास वस्तिकाशुद्धि, उपकरणशुद्धि, मल मूत्र कराना आदि सेवा करने के लिए बने रहते हैं। चार मुनीश्वर वसतिका के द्वार की रक्षा करते हैं ताकि कोई असंयत पुरुष अहंकारी शिक्षक उनके पास न जा सके। चार मुनीश्वर धर्मोपदेश मण्डप के द्वार पर रहते हैं। चार मुनीश्वर उस महाक्षेत्र के अंतिम द्वारों पर रहते हैं। ये मुनीश्वर जिस क्षेत्र में संन्यासमरण किया जा रहा है उस क्षेत्र के बाहर मुख्य स्थानों पर जैसे कि जो द्वार की तरह हो वहां बने रहते हैं। जो बडी़ शांति से आने वाले लोगों को धर्मसाधना की देशना करते हैं और उन्हें संतुष्ट कर देते हैं। कोई लौकिक जन उस संन्यासमरण करने वाले साधु के समीप दर्शन को भी न पहुंचे ऐसी व्यवस्थाएँ वे रखते हैं। आजकल तो प्राय: संन्यासमरण करने वाले के दर्शन के लिए एक व्यवस्था भी बनाते हैं कि इस तरह से उन्हें नंबरवार दर्शन करना चाहिए, पर वे मुनीश्वर दर्शन को बाधा समझते हैं। कोई भी पुरुष दर्शन करने आयेगा और इस साधु को; संन्यासमरण में रहने वाले को इतना भी ज्ञात हो गया कि कोई आया है इतना सा उपयोग के आने में वहां तो उन्हें संन्यास में बाधा आ जायेगी।

संन्यासमरण में गृहस्थों के लिये सावधानी का सन्देश- भैया ! गृहस्थों में भी कोई पुरुष मर रहा है तो उसके कुटुम्बियों का यह कर्तव्य है कि उस मरणहार व्यक्ति के पास अपना दु:ख सुख रोने न जायें। उन कुटुम्बियों के देखते ही उस मरणहार का उपयोग बदल सकता है और मोह ममता आ सकती है, किन्तु कहां होता है ऐसा? वह मरता जाता है और ये घर के लोग लिपट-लिपटकर रोते जाते हैं। भला जिसने अपने जीवन भर नाना श्रम करके परिवारजनों की इतनी सेवा खुशामद की है, पालन पोषण किया है अब वे इसे 5 मिनट भी विश्राम नहीं लेने देते, आध्यात्मिक आराम नहीं लेने देते। यहां भी यह कर्तव्य है कि मरणसमय में किसी मोही व्यक्ति को, परिजन को, इष्ट मित्र को पहुंचना न चाहिए। हां जो धर्मात्माजन हैं, जिनके धर्म, ज्ञान, वैराग्य की परिणति चल रही है ऐसे पुरुष रहें साथ में और वे उसे सावधान कराते रहें।

सल्लेखना में योग्य परिचारक की आवश्यकता- मरण समय में संन्यास धारण करने वाले पुरुष के लिए सेवक इतने योग्य चाहियें कि जो साधना की प्रत्येक बात समझ सकें। उस समय उस साधु के प्रति न तो कठोर व्यवहार होना चाहिए तथा

न अति कोमल व्यवहार होना चाहिए। कुछ उन्हें समझाया भी जाय तो वे सेवक इस बात के जानकार हों कि कितने जोर से बोलना चाहिए और कब बोलना चाहिए? साधु का तो ध्यान आत्मचिंतन में लग रहा है और उसे आप कोई विनती सुनाने लगें तो आपने तो उसमें बडी़ बाधा डाल दी। कोई योग्य पुरुष संन्यासमरण धारण करने वाले के पास होना चाहिए, इस बात का भी ध्यान करके योग्य सेवक को उनके समीप छोड़ा जाता है।

वे चार मुनीश्वर जो महाक्षेत्र के बाहर याने बहुत दूर-दूर पर इसलिए बैठे होते हैं कि कोई वादविवाद की इच्छा से अहंकार में आकर उस साधु के पास जाना चाहे तो वहीं बात करके उनकी शंकावों का समाधान करते हैं और घमंडियों का घमंड चूर देते हैं। चार मुनीश्वर संन्याससाधक मुनिराज की शरीर की सब प्रकार की सेवा के लिये निर्यापकाचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और भी अनेक मुनियों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं, जो निम्न प्रकार से विविध सेवा करते हैं। चार मुनीश्वर शुभ अशुभ वार्तावों का निरीक्षण करते है ताकि शुभ वार्तावों की सल्लेखना साधक के हित में रक्षा की जा सके और अशुभ वार्तावों से सावधानी रखी जा सके। चार मुनीश्वर साधक मुनि को धर्मोपदेश सुनाते रहते हैं जिससे साधक सल्लेखना में सावधान रहे। चार मुनीश्वर बसतिका के बाहर स्थित होकर धर्मोपदेश करते हैं वे धर्मकथावों का प्रायोजनिक वस्तुस्वरूप का विवरण करके धर्ममय वातावरण रखते हैं। चार मुनीश्वर धर्मोपदेश की कथा करने वालों की रक्षा के लिए इधर उधर भ्रमण करते हैं। ऐसे परिचर्या में समर्थ मुनीश्वर इस प्रकार की परिचर्या करते हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार आहार पान की प्रकल्पना के लिये व रक्षा के लिये भी कुछ मुनीश्वर होते हैं। ऐसे कितनी ही प्रकार से संन्यासमरण में स्थित साधु की सेवा की जाती है। ऐसे अनेक मुनि चाहियें एक संन्यासमरण करने वाले साधु का उत्तमार्थप्रतिक्रमण कराने के लिए। न हों इतने मुनि तो जितने हों उतने से ही काम बनाया जा सकता है, पर दो से कम में यह काम नहीं बनाया जा सकता है। ऐसे उत्तमार्थप्रतिक्रमण की विधि से देह का त्याग कराना यही व्यवहार से धर्म है। संन्यासमरण है, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण- अब निश्चय से उत्तमार्थप्रतिक्रमण क्या है? इसे भी जानो। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष- इन ९ तत्त्वों में उत्तमार्थ अथवा समस्त द्रव्यों में उत्तमार्थ है आत्मा। उस आत्मा में भी उत्तम है शाश्वत ज्ञानाननदस्वभाव। उस ज्ञानानन्द स्वभावमय कारणसमयसार के स्वरूप में उपयोग द्वारा जो ठहरते हैं ऐसे तपस्वीजन आवीचिमरण का नजरे अन्दाज रखकर संसार से विमुख और आत्मतत्त्व के सन्मुख रहते हैं, सो उनकी जो सहज अन्तस्तत्त्व की उपयोगमयी उपासना है वह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

आवीचिमरण के चिन्तन में धर्मसाधन का उत्साह- ज्ञानी का यह ख्याल है कि मरण प्रतिसमय हो रहा है। जो समय गया वह समय करोड़ों रूपये भी खर्च करें, करोड़ों किसी से मिन्नते करे तो बीता हुआ समय वापिस नहीं आ सकता है। इस ही युक्ति से समय की कीमत समझ लीजिए। उम्र बढ़-बढ़कर आज इतनी बडी़ हुई है और अब अनेक वृद्धावस्था के सम्मुख हो रहे हैं और अनेक वृद्ध भी हो गए हैं। उनके पास अटूट धन सम्पदा हो और अटूट चतुराई हो, धर्मविषयक ज्ञान भी हो और कदाचित् वह चाहे कि ये १० साल मेरे कुछ धोखे में निकल गये, सो ये न निकले की तरह हो जायें, हम फिर १० वर्ष छोटे बन जायें। अरे एक सेकेण्ड भी छोटे नहीं हो सकते। तब समझ लीजिए कि अब जो हमारी जिन्दगी में बचा हुआ समय है उसकी कितनी कीमत है? हम बचे हुए समय का ही ठीक सदुपयोग कर लें तो हमने बहुत कुछ किया, और तो कुछ किया ही क्या जा सकता है, अन्यथा जैसे प्रमाद में, असावधानी में हमारा इतना समय गुजर गया है ऐसे ही शेष समय भी गुजर जायेगा।

मायामय जगत् में आशा की अकरणीयता- भैया ! यह जगत् मायामय है। यहां किससे क्या चाहते हो? तुम्हें क्या मिल सकता है किसी दूसरे से? जीव पंचेन्द्रिय के विषयभोगों में और मन के विषय साधनों में रहना चाहता है, पर ये छहों के छहों विषय नितांत असार हैं। किसी चीज को छूकर कुछ मौज मान लिया तो आत्मा में कौनसी वृद्धि हो गयी, उल्टा आत्मबल घटा, पाप बंध हुआ, बहिर्मुखता हो गयी। रसीला स्वादिष्ट भोजन कर लिया और उसमें मौज मान लिया, अपने ब्रह्मस्वरूप की भी याद भूला दिया तो बतावो उसमें कौनसा आत्मलाभ पा लिया, कर्म बंध ही किया। यों ही घ्राण, चक्षु, श्रोत्र के जो विषय हैं, रूप देखना, अच्छा राग सुनना, रागभरी बातें सुनना इन बातों में भी अपनी प्रवृत्ति की तो इससे कौनसा आत्मलाभ पा लिया, प्रत्युत कर्म बन्धन किया। अपना संस्कार खोटा बनाया। मन के विषय की तो कहानी ही क्या कहें, इस जीवजगत् में भरे हुए मलिन अज्ञानी खोटे विचार वाले, मद्य मांस खाने पीने वाले, इस मनुष्य समाज में अपना नाम रखने के लिए बडी़ तरकीबें

लड़ाते हैं। इस दुष्प्रयत्न से कौनसा आत्मलाभ होगा? ये मुनिराज आवीचिमरण में निरन्तर सावधान हैं इसलिए आत्मोपयोग का उद्यम ही करते हैं, कर्म विनाश को ही करते हैं, इसी कारण उनके निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण होता है। ऐसा यह निश्चयउत्तमार्थप्रतिक्रमण उत्तमार्थशाश्वत अंतस्तत्त्व के अभेद ध्यान में परिसमाप्त होता है।

निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण की परिस्थिति- निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण निश्चय परमशुक्लध्यान का नाम है जिस ध्यान में ध्यान ध्येय का भेद नहीं है, केवल ज्ञानप्रकाश का अनुभवन है, सर्वप्रकार से जो अपने अंत: स्वरूप की ओर ही सन्मुख है, जैसे तरंग रहित समुद्र अपने आपमें समाया हुआ होने से शांत है, इस ही प्रकार रागद्वेष रहित यह उपयोग अपने आपमें समाया हुआ शान्त है, ऐसा जो सर्वप्रकार से अन्तर्मुखाकार है, किन्हीं भी इन्द्रियों के विषयभूत नहीं है, यहां तक भी कि जहां मन का भी काम रूद्ध हो गया है, जहां उपयोग द्वारा उपयोगमय आत्मतत्त्व का ही अनुभवन है ऐसी उत्कृष्ट अभेद स्थिति को निश्चय परम शुक्लध्यान कहते हैं। यह ही निश्चयउत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

निश्चयप्रतिक्रमण की अमृतकुम्भरूपता- यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण अमृतकुम्भस्वरूप है, क्योंकि अमृत का भण्डार परम आनन्द की निधि निज आत्मा के आश्रय से वह निश्चय शुक्लध्यान प्रकट होता है। यह आत्मा परम धर्मस्वरूप है इस ही कारण यह उत्तमार्थप्रतिक्रमण अमृतकुम्भस्वरूप है। यद्यपि नाना व्यवहार में लगे पुरूषों से चूँकि अनेक दोष लगते रहते हैं इस व्यवहारी पुरुष की प्रवृत्ति अधिक रूप से भी विषयों के दोष में पहुंच जाती है उसका निराकरण करने के लिए व्यवहारप्रतिक्रमण भी आवश्यक है अर्थात् गुरूवों से दोष निवेदन करके उनके दिये गये प्रायश्चित्त का पालन करना और प्रतिक्रमण के साथी जो अन्य भाव हैं उनकी भावना वृत्ति करना, ये सब व्यवहारप्रतिक्रमण आवश्यक है, किये जाना चाहिये, किन्तु ये व्यवहारप्रतिक्रमण व्यवहार धर्मरूप है इनसे और ऊपर उठकर अथवा यों कहो अपने अंतरंग की गहराई में पहुंचकर जब निश्चय आत्मधर्मस्वरूप का परिचय होता है, व्यवहारधर्म से भी उत्कृष्ट आगे बढ़कर जब ज्ञायकस्वरूप निश्चय आत्मधर्म में प्रवेश होता है उस समय यह व्यवहारप्रतिक्रमण विषकुम्भ कहलाता है और निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ कहलाता है। यहां अमृततत्त्व और विषतत्त्व का प्रयोजन आपेक्षिक है, उत्कृष्टता में तो निरपेक्ष अमृतकुम्भ निश्चयउत्तमार्थप्रतिक्रमण ही है।

प्रतिक्रमण के सहयोगी भावों में प्रतिसरणभाव- उस प्रतिक्रमण भाव के साथी अन्य भाव भी हैं। जिनका ध्येय प्रतिक्रमण की भांति निर्दोषता व गुणविकास होता है। जिसे प्रतिसरण अर्थात् सम्यक्त्व आदिक गुणों में वृद्धि करना, प्रतिक्रमण का ध्येय है कि दोषों से निवृत्त होकर निर्दोष गुणस्वरूप अपने आपको बनाना। यह उद्देश्य सिद्ध होने में जिन-जिन भावों की सहायता होती हो वे सब भाव प्रतिक्रमण के साथी हैं। गुणों की दृष्टि करके उन गुणों की प्राप्ति के लिए, वृद्धि के लिए अपनी अंत:प्रेरणा होना, उत्साह जगना, गुणविकास से ही संतोष मानने की वृत्ति होना ये सब हैं प्रतिसरण। दोषों का निराकरण और गुणों में लगने की प्रेरणा होना ये दोनों सहभावी गुण भी हैं और इनका परस्पर में एक दूसरे भाव के लिए सहयोग है। यह प्रतिसरण भी जब व्यवहार धर्मरूप होता है तो प्राक्पदवी में, विषय कषायों का सम्पर्क रह सकने वाले साधकों में यह व्यवहार प्रतिसरण अमृतकुम्भ है किन्तु व्यवहार धर्म के गुणों की प्रेरणा से ऊँचे उठकर जब अभेदपद्धति से निश्चयगुण ज्ञानस्वभाव में सहज प्रगति होती है तब उस निश्चयप्रतिसरण की स्थिति में व्यवहारप्रतिसरण विषकुम्भ होता है और यह निश्चयप्रतिसरण अमृतकुम्भ माना जाता है। विषकुम्भ का भाव हेय लेना और अमृतकुम्भ का भाव "उपादेय" लेना।

परिहारभाव- उस प्रतिक्रमण का साथी परिहारभाव है। मिथ्यात्व आदिक जो परिणाम हैं, रागद्वेष विरोध, शोक, रंज, रति आदिक जो परिणमन हैं उन परिणमनों का परिहार करना सो परिहार नामक सद्भाव है। यह परिहार जब व्यवहारधर्म की पद्धति से होता है तो वह प्राक् पदवियों में अमृतकुम्भ कहा जाता है, किन्तु आत्मस्वभाव के दृढ़ अभ्यासी और ज्ञायकस्वरूप की ही रूचि और मान्यता रखने वाले महात्मा संतों को यह व्यवहार परिहार विषकुम्भ हो जाता है, हेय हो जाता है और निश्चयपरिहार अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य तरंग मात्र का भी परिहार होना, यह उपादेय हो जाता है।

धारणाभाव- प्रतिक्रमण का साथी है धारणा। किसी शिवस्वरूप ध्यान का आलम्बन करके चित्त को स्थिर बनाना सो धारणा है। यह धारणा भी जब व्यवहारधर्म की पद्धति से भेदवासना सहित जब पंचनमस्कार मंत्र अथवा प्रतिमा आदिक पदार्थों के आश्रय से चित्त स्थिर किया जाता है उसको कहते हैं व्यवहारधारणा। यह व्यवहारधारणा प्राक् पदवियों में अमृतकुम्भ है किन्तु जब इससे और अंतरंग में प्रवेश करके केवलज्ञान शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चय धर्म का उपयोग द्वारा धारण होता है, जहां ज्ञान ज्ञानस्वरूप

को ही धारण किए रहता है ऐसे अभेद स्थितिरूप धर्मध्यान में अथवा निश्चय शुक्लध्यान में यह व्यवहारधारणा हेय हो जाती है और वह उपयोग द्वारा उपयोगमय आत्मा को उपयोग में धारण किए रहने रूप निश्चयधारणा उपादेय हो जाती है।

निवृत्तिभाव- प्रतिक्रमण का साथी भाव है निवृत्ति। बाहरी विषय साधनों से निवृत्ति होना, विषय कषाय आदिक के परिणामों से अलग हटना यह है निवृत्ति। यह निवृत्ति भी जब व्यवहारधर्म पद्धति से प्रकट होती है अर्थात् चरणानुयोग की विधि से आत्मकल्याण के बाधक बाह्य पदार्थों का त्याग किया जाता है और साथ ही अपना सद्भाव बनाने के लिए विभावों से भी दूर होने का यत्न किया जाता है तब यह व्यवहारनिवृत्ति प्राक्पदवी में अमृतकुम्भरूप है। यह किया ही जाना चाहिए। यह तो आत्महित के मार्ग में बढ़ने के लिए प्रथम कदम है, किन्तु जैसे ही सूक्ष्म भी तरंगों से, रंगों से निवृत्ति की स्थिति प्राप्त होती है ऐसी निश्चयनिवृत्ति में जो निश्चयधर्म में वृत्ति कराता है ऐसी परम शुक्ल ध्यानरूप वृत्ति में यह व्यवहारनिवृत्ति हेय हो जाती है और स्वभाव के उपादानरूप निश्चयनिवृत्ति वहां उपादेय होती है।

आत्मनिन्दाभाव- ऐसे ही प्रतिक्रमण का साथी भाव है निन्दा। अपने आपसे अपने दोषों को जाहिर करना, अपने दोष अपने आपको कहना, अपने दोषों को जानकर उन दोषों की निन्दा करना, उनमें अरति करना यह है निन्दानामक सद्भाव। यह निन्दाभाव जब भेदसहित, विकल्पसहित जागृत होता हैं तब वह व्यवहाररूप निन्दाभाव है आत्मनिन्दा। यह प्राकपदवियों में नितान्त आवश्यक है और अमृतकुम्भ है किन्तु अपने आपमें अपने दोषों की निन्दा करने रूप विकल्प उत्पन्न करना यह निश्चय-पथ नहीं है। इस भेदभावना से भी रहित होकर निन्दा का जो फल होता है निन्दा स्थान से हटकर अनिन्द्य स्थान पर पहुंचना, ऐसी निश्चय वृत्ति जहां हो रही हो वह है निश्चयदृष्टि से आत्मनिन्दा। इस स्थिति में व्यवहाररूप निन्दाभाव हेय हो जाता है और विभावों से हटकर स्वभाव में प्रवेश करने रूप आत्मनिन्दा फलस्वरूप स्थिति में यह निश्चय निन्दाभाव उपादेय हो जाता है।

आत्मगर्हाभाव- इसी तरह एक उपाय है गर्हा का। अपने दोष अपने गुरु से प्रकट करना यह गर्हा नामक सद्भाव है, गर्हा से दोषों की निवृत्ति हो जाती है। अपने दोष अपने आचार्य से, गुरु से कहना उनके ही सम्भव है जिनको आत्महित की धुन है, उसे जगत् के समस्त शान की वृत्तियां अत्यन्त हेय मालूम होती हैं। जो जगत् की झूठी शान के लिए उत्सुक हैं वे अपने दोष अपने मुख से नहीं कह सकते हैं। गुरु से अपने दोष निवेदन करना यह है गर्हा। यह गर्हा मोक्षमार्ग के अभिलाषी पुरुष को आवश्यक है और यह आत्मविशुद्धि में साधक है, लेकिन इस गर्हारूप विकल्प में अभी अभेद स्थिति नहीं आ पायी है। यह मैं दोषी हूं, मुझे दोष दूर करना है इसलिए गुरूमहाराज से मुझे निवेदन करना चाहिए ऐसे विकल्प सहित जो निवृत्त होता है उससे अभी स्वभाव स्थिति नहीं हो सकी है। इस भाव से भी आगे बढ़कर आत्मा का गुरु जो निज आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्व के गुणों को निरखना, जिस निरखने के प्रसाद से अपने दोषों से उपेक्षा हो जाय और यह दोष सही मायने में अभेदरूप से वचनजल्परहित इस अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व आत्मगुरू में लापता अभेदरूप निवेदित हो जाय अर्थात् आत्मदोष इस अंतस्तत्त्व में विलीन हो जायें, ऐसे उत्तम गर्हा को निश्चय गर्हा कहते हैं। इस स्थिति में व्यवहारगर्हा हेय हो जाती है और यह निश्चयरूप गर्हा उपादेय हो जाती है। यहां यह कहा जा रहा है कि दोषशुद्धि के प्रकरण में जब यह आत्मा दोषमयी किनारे से हटकर गुणमयी किनारे की ओर आता है तो उसमें जब इसके अभेद ज्ञायकस्वरूप का अभेदोपयोगरूप उपाय बनता है तो यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इसही को निश्चय परमशुक्लध्यान कहते हैं।

अप्रतिक्रमणरूप व प्रतिक्रमणरूप भूमियां- अब जरा यहां विचार कीजिए इस प्रसंग में अभी दो शब्द आये हैं प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। इन दो शब्दों में तीन भूमियां आयीं। प्रथम भूमि तो विषयी, कषायवान् मोही पुरूषों का अप्रतिक्रमणरूप है। प्रतिक्रमण कहते हैं दोषों को दूर करने की कोशिश करना। यह विषय कषायों में ग्रस्त मोही पुरुष दोषों को दूर करने की कहां कोशिश कर रहा है? दोषों के दूर करने का यत्न न होना इसका नाम है अप्रतिक्रमण। यह मोही प्राणी अप्रतिक्रमण की पहिली भूमि में पडा़ हुआ है। इससे जब ऊँचे उठता है तो प्रतिक्रमण की भूमि आती है। द्वितीय कक्षा में जहां लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है। तपस्या करना, आलोचना करना, गुरु से दोष निवेदन करना, विपरीत स्थानों से हटना, अपने स्वभाव की ओर लगना- ये सब बातें प्रतिक्रमणरूप हैं।

समक्षतावश प्रतिक्रमणरूप द्वितीयभूमि की अमृतकुम्भरूपता व विषकुम्भरूपता- इन दोनों में अप्रतिक्रमण तो विषरूप है इसमें तो कोई संदेह ही नहीं और उससे उठकर जहां प्रतिक्रमण प्रयत्न में आया तो वह अमृतकुम्भ है। भली बात है, किन्तु थोड़ा और विचार करें। दोषों को दूर करने का यह यत्न प्रतिक्रमणरूप कोशिश विकल्पसहित है। अभी इससे और ऊँचा चलना है तब साक्षात् मोक्षमार्ग मिलेगा। इससे ऊपर की स्थिति होती है कि वहां न गुरूवों से दोष निवेदन की वृत्ति है, न किसी प्रायश्चित्त किसी तपस्या को ग्रहण करने की वृत्ति है किन्तु वहां ज्ञानमय आत्मा ज्ञानभाव के द्वारा ज्ञानमय आत्मा में ही मग्न हो जाता है। इस स्थिति में यह उत्कृष्ट ध्यानी पुरुष क्या प्रतिक्रमण कर रहा है? तो इस ऊँची स्थिति का नाम प्रतिक्रमण है। वह परम अमृतरूप है उस तृतीय अवस्था के अप्रतिक्रमण के समक्ष यह प्रतिक्रमण भाव, द्वितीय अवस्था को प्राप्त भाव विषकुम्भ है।

उत्कृष्ट स्थिति में पहुंचने का अनुरोध- अब देखिये जब इस प्रतिक्रमण को ही विषकुम्भ कहा गया है तब यह अप्रतिक्रमण दोषों की परवाह न करके स्वच्छन्द बनकर दोषों में लगना, यह अमृत कैसे हो सकता है? इस कारण हे मोक्षमार्ग के रूचिया संतों ! नीचे के अप्रतिक्रमण में मत लगो। उत्कृष्ट जो प्रतिक्रमण है अर्थात् उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उस ओर लगना चाहिए। हमारी दृष्टि इस ज्ञायकस्वभाव की ओर होनी चाहिए। इस ज्ञायकस्वभावरूप आत्मतत्त्व के ध्यान के अतिरिक्त अन्य जितने भी ध्यान हैं, ख्यालात हैं वे सब संसार भ्रमण के मूल हैं। भले ही उन अनात्मभावों में अपनी कल्पना से हम धर्म का पालन कर रहे हैं, धर्म की चीजों का ध्यान कर रहे है ऐसे ध्यानध्येय की प्रमुखता से तपस्या कर रहे हैं, ऐसी कल्पना करके भले ही धर्मरूप में मान लें, पर वे भी संसार के कारणरूप भाव हैं पुण्य भाव हैं। इन समस्त अनात्मभावों को त्यागकर सहज परम आनन्दरूप अमृत से भरे हुए इस आत्मा में अंतःमग्न जो सहज परमात्मतत्त्व है कारणसमयसार शाश्वत स्वरूपमात्र, इस अंतस्तत्त्व को बुद्धिमान् लोग प्राप्त करते हैं और इस तरह इस निश्चयपरमशुक्लध्यान में अर्थात् ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की मग्नता में यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण होता है।

गाथा ९३

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा हु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।।९३।।

ध्यान की उपादेयता का निर्देशन- इस गाथा में एक ध्यान ही उपादेय है इस बात पर बल दिया है। चूँकि ध्यान में लीन साधु ही समस्त दोषों का परित्याग करता है। इस कारण ध्यान ही समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण है। यह आत्मा जानने देखने के अतिरिक्त और करता ही क्या है? इसके रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, इसके हाथ पैर इत्यादि अंगोपांग नहीं, यह किसी से भिड़ता नहीं, छिदता नहीं। यह तो केवल भावप्रधान तत्त्व है। ज्ञानदर्शन भाव ही यह कर सकता है। जब यह अपने ज्ञानभाव को एक आत्मतत्त्व में स्थिर करता है तब वह उत्तम ध्यान है। कोई परम जिन योगीश्वर जब-जब निज आत्मतत्त्व का आश्रय करके आत्मतत्त्व में ही अपने ज्ञान को स्थिर करता है तो यह है ज्ञान के एक ओर लगने की उत्कृष्ट अवस्था। इस ध्यान द्वारा ही सर्व प्रकार के दोषों का निराकरण होता है। यह आत्मा स्वभाव से निर्दोष है। इसका स्वरूप केवल जाननदेखन मात्र है। यह उपयोग जब केवल जाननस्वरूप निर्दोष आत्मतत्त्व में लगता है तो यह है उसका परम ध्यान। इस निश्चय धर्मध्यान में लीन हुआ साधु अभेदरूप से जब ज्ञानप्रकाशमात्र परिणमता हुआ बर्तता है तब सर्वप्रकार के दोषों का निराकरण होता है।

दोषग्रहण का महादोष- मोही जीव दोष करता जाता है और दोषों को पकड़े रहता है। दोषों को यदि वह न पकड़े तो दोष करने में भी अन्तर आ जायेगा। एक तो दोष होना और दूसरे दोष होने में, करने में अपनी भलाई मानना यह भूल पर भूल है अथवा यों कहिये भूल की भूल है। जो दोष करने में भलाई मानता है उसके दोष नहीं छूटते हैं। जो दोष में अपनी बरबादी मानता है उसके दोष छूट जाते हैं।

अभेदध्यान में निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण- यह आत्मतत्त्व निश्चयशुक्लध्यान द्वारा ही गोचर है। यह निश्चय परम शुक्लध्यान ऐसी स्थिति है जहां समस्त क्रियाकाण्डों का आडम्बर नहीं है। बाहर से लोग कुछ पहिचान नहीं सकते हैं, वहां अन्तर में ही साधक अपने ज्ञान सुधारस को ज्ञानमुख से पीता रहता है और अलौकिक आनन्द में मग्न रहा करता है। ऐसा साधु ज्ञानस्वरूप का ही उपयोग बनाये रहता है। जो साधु व्यवहारनयात्मक ध्यान ध्येय के भेद से निर्मुक्त हो गए हैं, किसी प्रकार का संकल्प

विकल्प जिनमें नहीं रहा है, परम शांत हो गये हैं, परमतत्त्व में शुद्ध अंतस्तत्त्व में अभेदरूप से जो बर्त रहे हैं, ऐसे संतों के निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण होता है।

अन्तर्मुखता का अभाव- भैया ! मोही जीव के दोषों को करते रहने की तैयारी रहती है, किन्तु ज्ञानी जीव के पूर्वकृत दोषों पर प्रायश्चित्त पछतावा करने की तैयारी रहा करती है। उन मोहियों के रौद्रध्यान में, विषयों की दाह में, अन्दर में अनन्त आकुलता भरी हुई है और इस ज्ञानी जीव के उस अतीत दोषों के रूदन में, पछतावा में भी अन्तर में अनन्त अनाकुलता की बात भरी पडी़ हुई है। ऐसे प्रतिक्रमण के द्वार से जो जीव सर्वप्रकार से अपने आत्मस्वरूप के अन्तर्मुख होते हैं और शुभ अशुभ समस्त मोह रागद्वेष का परित्याग करते हैं। इस कारण यह स्वाधीन निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान सर्व अतिचारों को दूर कर देता है।

दोष दूरीकरण का यत्न- यह जीव अनादिकाल से दोषों का पिटारा बना हुआ चला आ रहा है। वे दोष दूर हों तो इसे शान्ति मिले। दोषों की प्रकृति अशान्ति उत्पन्न करती है। उन दोषों का दूरीकरण होने का उपाय सर्वप्रथम यह है। वह क्या कि इन दोषों से दूर होकर आत्मा निर्दोष भी रह सकता है, ऐसा श्रद्धान होना। जिसको यह श्रद्धान ही नहीं है कि मैं दोषरहित भी हो सकता हूं, मैं राग, द्वेष, मोह रहित भी हो सकता हूं, जिसे यह श्रद्धा ही नहीं है वह रागादिक रहित कैसे हो सकेगा? मैं रागद्वेष रहित हो सकता हूं ऐसा श्रद्धान बनाने के लिए यह श्रद्धान प्रथम आवश्यक है कि मेरा स्वरूप राग, द्वेष, मोह से परे है, मेरे स्वरूप में राग, द्वेष, मोह नहीं है। यह तो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। ऐसे निर्दोष आत्मस्वरूप की श्रद्धा हो तो यह श्रद्धा हो सकती है कि मैं इन रागादिक भावों से विमुक्त हो सकता हूं। रागादिक भावों से मुक्त हो सकने की श्रद्धा हो तो उसका यह यत्न हो सकता है कि वह कभी रागादिक भावों से सर्वथा मुक्त होकर अनन्त आनन्द का पात्र होगा।

मूल में अल्प अन्तर का विस्तार- यह जीव स्वयं आनन्द का भण्डार है, किन्तु आशा लगा लगाकर इसने अपना ज्ञान खोया और अपना आनन्द नष्ट किया। व्यर्थ ही ऐसी आशा ही निराशा है। जो आशा करता रहेगा उसे निरन्तर निराश रहना पड़ेगा। जो किसी भी परद्रव्य की आशा नहीं रखता है वह अपने अन्दर में आनन्दतृप्त रहेगा। मेरा स्वरूप तो सिद्ध के समान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द का भण्डार है किन्तु यह अन्तर किस बात का हो गया है कि जो द्रव्य मैं हूं, वही द्रव्य भगवान है, चैतन्यस्वरूप एक है, फिर भी यह इतना महान अन्तर कि वह तो सकलज्ञेय ज्ञायक है और निजानन्दरस में लीन है किन्तु ये हम आप जन्म मरण के दु:ख भोग रहे हैं, भूख प्यास, ठंड गरमी के क्लेश सह रहे हैं और कल्पना कर करके नाना विकल्प बनाकर झूठे मान के लिए मोह के स्वप्न देखा करते हैं। यह अन्तर किस बात का आ गया है? यह अन्तर मूल में बहुत थोडी सी विधि का अन्तर है, वह क्या कि यह उपयोग जो आत्मप्रदेशमय है, आत्मा से बाहर जिसका अस्तित्त्व नहीं है इस उपयोग को अपने आत्मा से बाहर कर दिया है और जिन साधु संतों ने, ज्ञानी पुरूषों ने अपने उपयोग को अपने अन्तर की ओर किया है उनको मोक्षमार्ग है।

बहिर्मुखता में अशान्ति- इन बहिरात्मा पुरूषों को चूँकि वे बहिर्मुख हैं अत: शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता है। मोक्षमार्ग कहो या शान्तिमार्ग कहो दोनों ही एक बात है। संसारी लोग विषयों के भोगने में शांति का नाम लिया करते हैं, पर वास्तव में वहां शांति है कहां? वहां आकुलता है, बेचैनी है। इसका प्रमाण यह है कि यदि आकुलता न होती तो विषयों में प्रवृत्ति क्यों की जाती? जिसके फोड़ा फुंसी नहीं है वह क्या कभी मलहमपट्टी करता फिरता है? जिसको जाड़ा, बुखार नहीं है वह क्या रजाइयों को लादता फिरता है कोई वेदना है इसलिए इलाज करना पड़ता है। इसी प्रकार अज्ञानभाव में मोही जीव को कितनी विचित्र वेदना उत्पन्न होती है, जिस वेदना को शब्दों से भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे विचित्र क्लेश कई प्रकार के होते हैं। जिस वेदना को दूर करने के इलाज में यह जीव पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगने की प्रवृत्ति करता है। स्वयं यह स्वभावत: शान्त है, किन्तु अपने शान्त स्वभाव को छोड़कर अशान्तभाव में पहुंच गया है। ऐसा यह दोष इस जीव को परेशान किए हुए है। जब तक उन दोषों का निराकरण न किया जायेगा तब तक शान्ति न मिलेगी।

आज के दुर्लभ उत्कृष्ट समागम का अज्ञान में दुरूपयोग- आज बडे सौभाग्य से हम आप सबने मनुष्य जन्म पाया हैं, मनुष्यभव में भी उत्तम जाति उत्तम कुल पाया है, वहां भी उत्तम धर्म पाया है, धर्म के साधनों का समागम पाया है, अब सोचो कि ये कुटुम्ब के मोह, धन वैभव की तृष्णायें, ये कितनी गंदी प्रवृत्तियां हैं? इन गंदी प्रवृत्तियों में अपने उपयोग को फँसाया

तो इतने ऊँचे लाभ से गिरकर दुर्गति में पहुंचेंगे। आत्मा तो यही रहेगा, आज जो यहां मनुष्य है यह आत्मा जब कीडा़ मकोड़ा पेड़ वनस्पति में पहुंच जायेगा तब इसकी क्या दशा होगी? आज सब कुछ पाया है तो कुछ गम नहीं खाता है। चारों कषायों में कितने वेग से दौड़ रहा है कि मानों यह ही निश्चय कर चुका यह कि जितना हम धन एकत्रित कर लें उतना हमारा हित होगा, उतना ही बड़प्पन होगा और इस धन के लिए हम जितना मायाचार कर सकें उतनी ही तो हमारी चतुराई की कला है और ऐसी ही बुद्धि के कारण यह शरीर से धन वैभव से अपना मान समझता है, इन्हीं झंझटों के कारण पद-पद पर इसके क्रोध भी उमड़ता है चार कषायों में कोई भी एक कषाय हो उस ही से दुर्दशा हो जाती है, फिर जो चारों कषायों में मस्त हो रहा है उसकी दुर्गति की कहानी कौन कहे?

स्पर्शनेन्द्रियवशता में क्लेश-विषयों की भी बात देखो- एक-एक विषय के आधीन होकर जीव अपने प्राण गँवा देता है। स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर हाथी जितना बड़ा जानवर भी अपने प्राण गँवा देता है अथवा पर के आधीन हो जाता है। हाथी को पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगल में एक गड्ढा खोदते हैं, उस गड्ढे पर बांस की पंचें बिछाकर पाट देते हैं और कागज से मढ़कर उस पर एक झूठी हथिनी बनाते हैं और कोई १०० हाथ दूर उस हथिनी के सामने एक झूठा दौड़ता हुआ हाथी बनाते हैं। ऐसी स्थिति में कोई सच्चा हाथी फिरता हुआ वहां आये तो इस झूठी हथिनी को निरखकर उससे प्रेम करने के लिए दौड़ता हुआ आता है, इतने में झूठा हाथी जो बना हुआ है जो दौड़ता हुआ नजर आ रहा है, उसे देखकर यह हाथी यह चाहता है कि मैं सबसे पहिले इस हथिनी के पास पहुंचूँ। तो विवेक अब खत्म हो गया। उस हथिनी के नजदीक पहुंचता हैं कि बांस टूट जाते हैं और यह हाथी उस गड्ढे में गिर जाता है। क्या था? न हाथी की उस हथिनी से प्रीतिविषयक कल्पना होती और न वह फंसता। यह तो स्वच्छन्द जंगल में ही आनन्द से विचरता रहता। कौनसी कमी थी?

रसनेन्द्रियवशता में क्लेश- रसना इन्द्रिय के वश होकर यह मछली अपना कंठ नुकीले लोहे की फांस में फंसा लेती है, ढीमर लोग जो मछली पकड़ने वाले हैं वे तालाब के तट पर बैठकर बांस की डंडी में डोर बांधकर पानी में लटकाते हैं और लोहे की फांस में मांस लटकाकर डाल देते हैं। यह मछली कुछ आगा पीछा नहीं देखती है और इतना उसका मन है कि चाहे तो वह सम्यक्त्व पैदा करले, इतना श्रेष्ठ मन मिला है फिर भी वह कुछ विवेक नहीं करती। मांस के खाने के लोभ से एकदम मुँह फाड़कर टूट पड़ती है और उसके कंठ में वह लोहे का फांस फंस जाता है, ढीमर लोग पानी से निकालकर बाहर कर देते है। बाहर वह कुछ देर बाद मर जाती है या कोई निर्दयी तो उस जिन्दा मछली को ही धधकती हुई आग में डाल देता है, मछली अपने प्राण गँवा देती है रसना इन्द्रिय के वश होकर।

रसनेन्द्रियवशता में मनुष्य की विडम्बना- मछली की क्या कथा कहें- मनुष्य की ही कथा देख लो। बीमार चल रहे हैं और मिठाई या चाट जो कुछ पसंद है उसे खाये बिना नहीं रहते हैं। बीमार हो गये, डाक्टर का बड़ा खर्च चल रहा है, दूसरे के आधीन होकर हाथ जोड़ रहे हैं पर इतना साहस नहीं है कि हम एक बार ही खायें अथवा अमुक चीज ही खायें तथा अपने मन से कुछ स्वस्थ रहते हुए भी कभी-कभी उपवास कर ले, यह साहस नहीं होता है। इस साहस के फल में डाक्टर में जो पैसा खर्च होता है वह भी बंद हो सकता है, शरीर भी स्वस्थ रह सकता है और धर्मसाधना के योग्य भाव चलेगा किन्तु व्यामोह में यह बात नहीं सूझती है, मरे जा रहे हैं पर रसना का विषय नहीं टूट सकता है और उनके परिचायक भी उस रोगी से पूछते हैं कि तुम्हारा मन किस पर चलता है? अरे इस चीज पर चलता है। जो बहुत नहीं तो थोड़ा तो दे ही दो। रसना इन्द्रिय के विषय के वश होकर यह मनुष्य भी क्या अच्छी जिन्दगी से जी रहा है?

घ्राणेन्द्रियवशता के क्लेश- घ्राणेन्द्रिय वश होकर भँवरा भी अपने प्राण त्याग देता है। संध्या के समय कमल के फूल की गंध में मुग्ध होकर भँवरा फूल के अन्दर छुप जाता है, रात्रि शुरू होते ही फूल बंद हो जाता है। जिस भँवरे में यह ताकत है कि काठ को भी छेदकर आरपार निकल सकता है वही भँवरा विषयवासना के वश होकर उस कमल के पत्ते को भी छेदकर नहीं निकलना चाहता है। श्वास घुट जाने से वह भ्रमर मर जाता है अथवा किसी हाथी आदि ने आकर उस फूल को चबा लिया तो यों बुरी मौत मर जाता है। एक घ्राणेन्द्रिय के विषय के लोभ क ही तो फल है।

नेत्रेन्द्रियवशता से विडम्बना- नेत्रइन्द्रिय के वश होकर ये पतंगे दीपक की लो पर गिरकर अपने प्राण गँवा देते हैं पर नेत्रेन्द्रिय के वश होकर प्राण गँवा देने में यह मनुष्य क्या कम है? एक बार गुरूजी ने सुनाया था कि बनारस में एक हसीन

नाटक हो रहा था। उसमें उनके दोस्त उन्हें भी दिखाने ले गये थे। वहां कोई स्त्री रूपवान कलावान पार्ट कर रही थी। किसी बनारस के एक रईस के मन में कुछ विभाव आया, काम वासना जगी, प्रीति का भाव हुआ, एक पर्चे पर कुछ शब्द लिखकर उस पर्चे को स्टेज पर फेंक दिया इस ध्येय से कि यह स्त्री इस पर्चे को खोलकर बांच ले, लेकिन उसने क्या किया कि उस पर्चे को पैरों से बुरी तरह रौंदकर जुगुप्सा भरी सूरत बनाकर उसका तिरस्कार कर दिया। उस रईस के पास कोई चाकु या कटार थी, निकालकर उसने अपने पेट में भौंक लिया और मर गया। यह मनुष्य क्या उन पतंगों से कम है? एक नेत्रेन्द्रिय के वश होकर यह जीव अपने प्राण भी गँवा देता है।

कर्णेन्द्रियवशता के क्लेश व मनुष्य की पन्चेन्द्रियवशता- कर्णेन्द्रिय के वश होकर सांप हिरन आदि जो संगीत के शौकीन हैं ये पकड़ लिए जाते हैं। जब एक-एक इन्द्रिय के वश होकर ये जीव अपने प्राण गँवा देते हैं तो यह मनुष्य तो पंचेन्द्रियों के वश हो रहा है। इन जीवों में ऐसी प्रकृति है कि मुख्यता से वे एक-एक इन्द्रिय के वश होते हैं पर यह मनुष्य मुख्यता से पांचों इन्द्रियों के वश हो रहा है।

शान्तिमार्ग का विधिविधान- ऐसे विषयकषायों के दोषों से भरे हुए जीवों को शान्ति का मार्ग तब तक नहीं मिल सकता है जब तक इन दोषों को दूर नहीं कर देते। अपने दोषों को दूर करने का साधन है ध्यान। यह मैं आत्मा निर्दोष हूं, केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं, आनन्द का निधान हूं, ऐसा स्वभाव में अभेद ध्यान करके जिसके यह निश्चय परमशुक्लध्यान अलौकिक प्रकाश प्रकट होता है वह परमार्थज्ञान योगी है और उन्हें यह निर्दोष शुद्ध आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष होता है। इस कारण परमात्मतत्त्व की भेंट में ऐसा प्रताप है कि समस्त दोष विलीन हो जाते हैं और इसके शांति का मार्ग प्रशस्त होता है परमार्थप्रतिक्रमण के अधिकार में शुद्ध आत्मा होने की यह विधि बतायी है, जो इस विधि पर चलेगा उसके सांसारिक समस्त संकट दूर हो जायेंगे।

गाथा ९४

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा हो दि पडिकमणं।।९४।।

व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता- प्रतिक्रमण नामक अधिकार में यह अंतिम गाथा है। इस गाथा में व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता बतायी गयी है, अर्थात् द्रव्य श्रुतप्रतिक्रमण सूत्र में जैसा प्रतिक्रमण बताया गया है उस प्रतिक्रमण को सुनकर फिर सकलसंयम की भावना करना, समस्त असंयमभावों का त्याग करना, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अंत:स्वरूप में संयत होना यह काम बन सका तो इसको कहते हैं सफलता। जैसे मंदिर में खड़े होकर द्रव्य पूजा करने की सफलता क्या है कि उस विधिपूर्वक द्रव्य पूजा करते हुए में अथवा द्रव्य पूजा करके शुद्ध ज्ञानविकासात्मक जो प्रभु है उस प्रभु के इस अनन्त विकास में मग्न होना, शाश्वत सत्य जो गुण है उस गुण का अनुराग करना यह है द्रव्यपूजा की सफलता। ऐसे ही व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता क्या है कि अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनों भावों से उठकर उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है उसमें अर्थात् निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण में मग्न होना, यह है व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता।

दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्य की सफलता का समर्थन- जैसे सीढ़ियों पर चढ़ने की सफलता क्या है? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्य को तो लोग विवेकी न कहेंगे। इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेंगे। तो सीढ़ियों पर चढ़ने की सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भाव से परे जो शुद्ध अंत:प्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अंतिम गाथा में किया गया है।

प्रधान कर्तव्य की प्राप्ति के लिये कर्तव्य– इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यवहारप्रतिक्रमण भी उपादेय है और उससे भी अधिक उपादेय निश्चयप्रतिक्रमण है। जैसे नीचे खड़े हुए पुरुष का सीढ़ी पर चढ़ना भी कर्तव्य है और उससे अधिक कर्तव्य ऊपर आना है। यों समझ्र लीजिए कि प्रधान कर्तव्य के लिए कर्तव्य है। जैसे उस पुरुष का प्रधान कर्तव्य है ऊपर आना, इस प्रधान कर्तव्य की पूर्ति के लिए उसका कर्तव्य है सीढ़ियों पर चढ़ना, ऐसे ही निश्चय स्वरूप में पहुंचना प्रधान कर्तव्य है। निर्दोष गुणपुन्ज अभेदस्वभाव में मग्न होना, उत्तमार्थप्रतिक्रमणरूप होना यह प्रधान कर्तव्य है। इस प्रधान कर्तव्य की पूर्ति के लिए

व्यवहारप्रतिक्रमण सूत्र में जो बताया गया है तथा निर्यापक आचार्य जो आदेश देता है उसके अनुसार व्यवहारप्रतिक्रमण करना भी कर्तव्य है।

प्रतिक्रमणसूत्र का ज्ञाता- प्रतिक्रमणनामक सूत्र को पढ़ने का सबको अधिकार नहीं दिया गया है। जिन शास्त्रों में प्रायश्चित्त देने का विधान हैं उन शास्त्रों को पढ़ने का सबको अधिकार नहीं है। उसको प्रमुख आचार्य, समर्थ निर्यापक ही पढ़ सकता है। कारण यह है कि साधारणजनों को यदि यह विदित हो जाय कि अमुक दोष का यह प्रतिक्रमण है, इस दोष का यह प्रायश्चित्त है तो वह स्वच्छन्द हो सकता है। अजी इस दोष का तो इतना ही प्रायश्चित्त है, हो जाने दो, कर लिया जायेगा प्रायश्चित्त । साथ ही एक बात और है कि शास्त्र के प्रतिक्रमण सूत्रों में दोषों का जो प्रायश्चित्त बताया गया है हूबहू वही का वही देने के लिये नहीं भी होता। देने वाले आचार्य निर्यापक उस दोषी के बल को देखकर, परिस्थिति को परखकर, उसके परिणामों को निरखकर कितनी औषधि देने से लाभ होगा, सब बातें आचार्य परखकर प्रायश्चित्त देते हैं, किन्तु प्रायश्चित्त देने का वही माध्यम है जो शास्त्रों में बताया गया प्रतिक्रमण है। अमुक दोष का इतना प्रतिक्रमण है यह माध्यम तो अवश्य है, इसको न छोड़कर इसके ही करीब-करीब हीनाधिकरूप से प्रायश्चित्त देने का निर्यापक आचार्य को अधिकार है।

व्यवहारप्रतिक्रमणप्रदाता का बुद्धिबल- कोई-कोई तो ऐसे मुनीश्वर होते हैं कि उस ही अपराध को वे निवेदन कर दें और आचार्य यह कह दे कि यह बुरा हुआ अब न करना, बस यह प्रतिक्रमण हो गया और कोई मुनि ऐसे होते हैं कि वही दोष करें और उनको यह आदेश मिलता है कि तुम इतने दिन अनशन करो, इतने दिन गरमी में तपस्या करो, या नीरस खावो कड़ा प्रायश्चित्त देते हैं। प्रायश्चित्त भी मंशा है दोष दूर हो जाना और आगे यह दोष न करे, ये सब बातें आचार्यदेव के विवेक पर निर्भर है। फिर भी प्रतिक्रमणसूत्र में जो आधार बताया गया है और जो वर्णन किया है उस माध्यम से निर्यापक आचार्य समस्त आगम के सार और असार तत्त्व का विचार करने में अत्यन्त निपुण होता है। आपस में जो हेयरूप से कहने के लिए असार बात लिखी है उसका भी भली प्रकार निर्यापक को परिज्ञान होता है और उपादेयरूप से जो सार बात लिखी होती है उसका भी गुण जानने में चतुर होता है, ऐसे निर्यापक आचार्यों ने प्रतिक्रमण नामक सूत्र में आगम में द्रव्य श्रुत में बहुत विस्तार से प्रतिक्रमण का वर्णन किया है। उसको साधारणतया जानकर और अपने निर्यापक आचार्यदेव यथा समय जो प्रतिक्रमण बताते हैं उसको प्राप्त कर जो मुनि सकलसंयम की भावना करते हैं उन मुनियों के निश्चयप्रतिक्रमण की पात्रता होती है। निर्यापक आचार्य उस प्रतिक्रमण के वर्णन को जानकर सावधान रहते हैं और सकलसंयम की धारणा करते हैं और अन्य साधुजन निर्यापक आचार्यदेव के बताये गये प्रतिक्रमण को जानकर वे भी सकल संयम की धारणा करते हैं।

सकलसंयम का अन्तःकरण- सकलसंयम का अर्थ है सर्व परभावों का, परपदार्थों का, परतत्त्वों का परित्याग करना और शुद्ध जो निजस्वरूप है, ज्ञायक भाव है उसमें संयत हो जाना। ये मुनिजन जिननीति का उल्लंघन नहीं करते हैं, जैसा कुछ आगम में बताया गया है उस विधि से अपनी व्यवहार प्रवृत्ति करते हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र का निर्दोष पालन करते हैं। निश्चय संयम का यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार संयम की उपेक्षा करके अर्थात् व्यवहार संयम से दूर रहकर उसका ग्रहण भी न करके अंतरंग में आत्मस्वरूप में संयत हो जाना, यह अर्थ नहीं है किन्तु व्यवहार व्रतों को करके व्यवहार व्रतों की परिपूर्णता बनाकर दृष्टि निश्चयस्वरूप में संयत रहने की बनाना चाहिए।

प्राक् पदवी से संभाल बिना उत्तर सिद्धि न होने का एक उदाहरण- जैसे श्रावक अवस्था में रहकर जिस श्रावक ने साधुवों को अनेक बार आहार दान कराया है वह श्रावक जब कभी मुनि बनेगा तो शुद्ध विधि से ठीक चर्या सहित निर्दोष आहार ग्रहण की वृत्ति बना सकता है। जैसे नीति में कहते हैं कि 'जिनसे घरमाहि कछू न बनी उनसे वन माहि कहां बनी है?' गृहस्थावस्था में रहकर जिसके उदारता न जगी, दया उपकार की वृत्ति न हुई, धर्म की भावना न हुई, धर्मपालन भी न किया ऐसे उद्दण्डजन गृह को त्याग कर मुनि बनकर भी क्या करेंगे। कोई दु:खी पुरुष हो रसोइया हो, गाड़ीवान हो, नौकर हो, बड़ा दु:खी रहता है और सोच ले कि मुनि बन जायें तो लोगों के हाथ भी जुड़ेंगे और अच्छी तरह जिन्दगी भी कटेगी। बन जाय मुनि। तो भला जिसने गृहस्थावस्था में साधुवों की वैयावृत्ति नहीं की, अपनी शक्ति माफिक दान नहीं किया ऐसा पुरुष लौकिक कष्ट से अधीर होने के कारण मुनि बन जाने के बाद किस हालत में रहता है, कैसी उसकी चंचल दृष्टि रहती है, कैसी अकड़ रहती है ये सब बातें प्राय: विदित ही हैं।

व्यवहारधर्म की उपादेयता- जो पुरुष गृहस्थावस्था में बड़े विवेक से रहा, धर्मपालन करके रहा, साधुवों में बड़ा अनुराग रखता रहा, वैयावृत्ति भी तन मन से भली प्रकार की, ऐसा पुरुष ज्ञान और वैराग्य का विकास पाकर साधु होता है तो उसकी चर्या कैसी निर्दोष होती है, यों ही समझिये कि जो पुरुष व्यवहारसंयम में नहीं आते हैं, व्यवहारप्रतिक्रमण व्यवहार व्रत व्यवहार के धर्मसंयम की बुद्धि का उल्लंघन करते हैं और निश्चयधर्म का दावा रखते हैं, प्रसिद्धि करते हैं, ऐसे पुरुष निश्चय धर्म के समीप नहीं पहुंच पाते हैं। सीढ़ी से चढ़कर जाना ऊपर की मंजिल में पहुंचने का कारण है। कोई सीढ़ी को पहिले से ही छोड़े रहे कि लोग कहते हैं कि सीढ़ी को छोड़ोगे तो ऊपर पहुंचोगे, तो हम तो पहिले से ही सीढ़ी के त्यागी बने हैं, ऐसा कोई सोचे तो वह ऊपर नहीं पहुंच सकता है।

जयमार्गानुसारिता का जयवाद- जिन नीति का उल्लंघन न करके निर्दोष चारित्र को धारण करता हुआ जो मुनि निश्चय धर्म की भावना करता है वह मुनि बाह्य प्रपंचों से विमुख रहता है। उस महामुनि के केवल एक शरीरमात्र परिग्रह रह गया है। वह पंचेन्द्रिय के विषयों से दूर है। इन्द्रिय के विषयों का रंच भी वहां उदय नहीं है। वह तो परम गुरु शुद्ध सिद्ध सर्वज्ञ वीतराग कार्यसमयसार और कारणसमयसार के गुणों के स्मरण में आसक्त रहता है, जिसका चित्त सिद्ध परमात्मा में अरहंत परमात्मा में और आत्मस्वभाव में लीन रहा करता है, ऐसे साधु के प्रतिक्रमण हुआ करता है। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने यह मार्ग प्रतिपादन किया है, धन्य हैं वे साधुजन जो निर्यापक आचार्य के व्याख्यान सहित, विवरण सहित वचनों को सुनकर समस्त चारित्र के धारण करने वाले बन जाते हैं, शुद्ध निर्दोष संयमधारी हो जाते हैं ऐसे संयमधारी साधुजन भी नमस्कार के योग्य हैं।

सकलसंयमनिकेतनों का अभिवादन- निर्दोष उपदेश को बोलने वाला वक्ता भी महान् है तो निर्दोष उपदेश को सुनकर अपने ज्ञान में उसे उतार लेने वाला श्रोता भी महान् है। और उस समय जहां वक्ता और श्रोता दोनों का अंत:स्वरूप के लक्ष्य से परिणमन चल रहा है उस समय ये दोनों निर्दोष और अन्तर्मुखी धुन वाले हैं। ऐसे ही वे निर्यापक आचार्य भी संयमी हैं जो निर्दोष संयम का प्रतिपादन करते हैं और वे मुनि भी संयमधारी है जो निर्दोष संयम का प्रतिपादन सुनकर उस समस्त संयम के घर बन जाते हैं। धन्य हैं वे साधुजन जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं, कोई लौकिक कामना नहीं करते हैं, जिनके अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है, विषयकषायों की वृत्ति नहीं है, जिनके सदा प्रतिक्रमणरूप निर्दोष वृत्ति रहती है, जिनका सकल संयम ही भूषण है, अन्तर्मुखाकार उपयोग होते रहना ही जिनका श्रृंगार है, ऐसे संयमधारी पुरूषों को मन, वचन, काय से नमस्कार हो। इस तरह यह प्रतिक्रमण नामक अधिकार समाप्त होता है।

नियमसार प्रवचन षष्ठम भाग समाप्त